समरथ

जनवरी–अप्रैल 2010 ◆ नई दिल्ली

नाहि तो जनम नसाई

प्रस्तुत अंक तैयार होते हुए अंबेडकर जयंती गुजरी और साथ ही मई दिवस भी। नतीजे के तौर पर यह अंक विशेषकर उत्पीड़ित समुदाय से जुड़ी विशिष्ट समस्याओं पर ही केंद्रित रखा गया है। जातिवाद और छुआछूत सदियों पुरानी समस्या है, जिसे तमाम संवैधानिक हस्तक्षेपों और कानूनों के बावजूद समाप्त नहीं किया जा सका। अजीब विडंबना है जहां एक ओर दलित आंदोलन ने पूरे देश में जोर पकड़ा है और कुछ राज्यों में राजनैतिक नेतृत्व भी दलित समुदाय के हाथों आया है लेकिन सामाजिक तौर पर जातिवाद और छुआछूत से संबंधित समस्याओं में कोई गहरा परिवर्तन नहीं आया है। एक कड़वी सच्चाई और भी है कि कुछ दलित नेतृत्वकारी स्वयं ब्राह्मणवाद का शिकार हो चुके हैं। जिन समुदायों को ब्राह्मणवाद ने अछूत की संज्ञा दी वे ही आपस में एक-दूसरे के साथ छुआछूत बरतने की सीमा तक पहुंच गए हैं। ब्राह्मणवाद की यह सबसे बड़ी सफलता है। लेकिन राजनैतिक नेतृत्व कुछ ऐसी छवि प्रस्तुत कर रहा है जिससे हमें यह भ्रम हो कि जातिवाद और छुआछूत में काफी कमी आई है। जातिवाद से जूझते हुए हमारे जैसे लोग अक्सर आम मजूदरों और किसानों की समस्या और उनकी दरिद्रता को बिल्कुल नजरअंदाज कर जाते हैं। दोनों ही समस्याएं बराबर की अहमियत रखती हैं। मई दिवस मात्र एक औपचारिकता बनता जा रहा है। मजदूर और किसान एकदम हाशिए पर पहुंच चुके हैं। इन मजदूरों और किसानों में तमाम समुदायों के लोग शामिल हैं। भूमंडलीकरण के इस भयाभह दौर में कितने मजदूर किसान हर रोज़ भूखे सोते हैं, यह हमारे सरोकार से ही बाहर होता जा रहा है। तथाकथित विकास के नाम पर आदिवासियों को उनकी ज़मीन से बेदखल करने और उन्हें पूरे तरह विस्थापित करने की बाढ़ आई हुई है। उड़ीसा में नवीन पटनायक सरकार और पास्को के खिलाफ जगत सिंह पुर और कलिंग नगर के आदिवासियों और उनके समर्थक कार्यकर्ताओं का शानदार संघर्ष इसी प्रक्रिया का नतीजा है। जरूरत इस बात की है कि उपरोक्त समस्याओं को समग्र रूप में देखा जाए और इन तमाम संघर्षों के साथ आवाज़ में आवाज़ मिलाई जाए। प्रस्तुत अंक इन्हीं समस्याओं को उजागर करने का एक प्रयास है।

ग़ुलामी की ज़ंजीरें टूट जायेंगी

गुलामी की ज़ंजीरें टूट सब जायेंगी,
उनको तोड़ देगा मेरा कसा हुआ बाहुदण्ड।
भरे हुए वक्ष पर
उभरे हुए घावों की ये लाल-लाल लकीरें
अनुभव के सहारे
मुझमें भर देंगी नये (खौलते-से) ख़ुन की
खिलखिलाती हुई सौ बेचैन जवानियाँ।
मंज़िल के लक्ष्य के लिए अकुलाती-सी
मीठी-मीठी सुलगती आग वह
जागेगी आँखों में सुबह का नूर बन।
गुलामी की ज़ंजीरें जल्दी ही सब टूट जायेंगी
उनको तोड़ फेंक देगा
शक्तिशाली मेरा नया बाहुदण्ड।

तेरे साथ घूमूँगा गलियों में राहों पर
फटे चिथड़ों में भी रहूँगा मैं बादशाह
अपने मन का नहीं, मैं हूँ तेरे स्नेह का भिक्षुक
तेरा साथी यह चिथड़ों का फ़रज़न्द
दिल जिधर जायेगा
उधर तू भी रहेगा
उधर मैं भी रहूँगा
ऐ हिन्दुस्तानी फटेहाल ज़िन्दादिल ज़िन्दगी
तेरे साथ तेरा यह बन्दा नित रहेगा।

पंछी के मानिन्द हम नहीं उड़ जायेंगे
इन गलियों में चूहे-से नहीं ही सड़ेंगे हम
बनने के लिए हम इन्सान
कहाये हैं आदमी
मानव के लिए हम
हमारे भी लिए हम
गलियों में रहेंगे और गलियों में खायेंगे
गलियों में रहने वाले लोगों के लिए हम लड़ेंगे।

मैदानों में घूमेंगे
भूरे-भूरे पीले-पीले सुनहले-सुनहले विस्तारों पर
सुदूर को समीपतर बनाकर हम चूमेंगे
चूमेंगी अचरजभरी-सी निगाहें ये
हरे-हरे खेतों में
लाल-लाल चूनर के धब्बों को।
ऊपर होगा नीला-नीला आसमान
नीचे होगा भूरा-भूरा
गेहुँए घासों-सा भरा यह मैदान मालवी।
छोटे-छोटे झरने होंगे
खूब काम करने होंगे
अपने सब कामों में उछाह होगा
खूब होगा बिसवास
हवा जैसे बहती है अनायास
कार्य-स्फूर्ति वैसे बह चलेगी
ज़िन्दगी कहानी कह चलेगी।
ज़िन्दगी बड़ी ही अजीब है
मुझ-से बेतरतीब
को मिली तरतीब है
राहों की तरतीब
मैदानों की तरतीब।
ग़म की, पैग़ाम की,
धूम मचाने की, कर गुज़रने की ताक़तें
असल में असलियत
का नूर भर देने की तमन्ना औ' हिकमतें।
समायी-सी लगती हैं
मेरी इस धुकधुकी में छोटी-सी हस्ती में
लेकिन सब तेरे बिना फीका है
ज़िन्दगी सूखी है कि आसमान सूखा है
क्योंकि मेरा दिल
मेरी ज़िन्दगी तेरे लिए भूखी है

ज़िन्दगी की अब तक की
लिखी गयी जैसे भी सतरें हैं
उन्हें फिर दुबारा उभारे कौन ?
उन्हें कौन पढ़े अब ?
आगे की ज़िन्दगी आज की समूची यह
ज़िन्दगी लिखना है
तजुर्बे से सीखा है कि तजुर्बे से सीख
नहीं पाया मैं, कि नहीं सीख सका हूँ।
इसलिए इसमें तेरी मदद
ऐ मेरे साथी, मेरे मालिक   चाहिए!

गुलामी की ज़ंजीरें जल्दी ही टूट सब जायेंगी
मेरी कमज़ोरियों की
अन्दर की लाचारी की दीवालें टूटेंगी
तीखे सुभाव के कँटीले तारों घिरी हुई
सूखी हुई ज़मीन पर
सोया हुआ जागेगा इन्सान
लेकिन, ऐ मेरे साथी, तेरे बिना जागकर करेगा क्या
पहले तो तेरे बिना नहीं वह सकता भी जाग ही,
जाग भी गया तो वह करेगा क्या ? हाय रे !
सूने में आँखें फाड़
चारों तरफ़ देख-देख
वह पथरा जायेगा कि जायेगा सो फिर
ऐ मेरे दूर पर छिपे हुए साथी
बोल, तेरा नाम क्या है
रहता किस मुहल्ले में करता है काम क्या
सुखी है या दुखी है
कि तेरी भी ज़िन्दगी की काजली
भीतें हैं कि जिन पर
दर्द की उँगली से
भद्दे-भद्दे हरफ़ों में चारों ओर,
छोटे-छोटे वाक्यों में कहानियाँ कई एक
लिखी गयीं   पेट की व आत्मा की भूख की
अपमान-क्षोम की व द्रोह की
दिल को मसलकर रह जाने वाली प्यार भरी बात की
न कह सके जाने वाले गहरे बिछोह की
पसलियों पर पड़ी हुई ख़ौफ़नाक आफ़तों के लोहे की लात की
सोचता हूँ इन सबसे बरी है
ज़िन्दगी तेरी हरी-भरी है।

पूछता हूँ फिर भी कि
मिट्टी से लिपे-पुते घर का रखवालदार
तेरा वह प्यारा नीम
साँझ की उस ठण्डी-सी गीली-सी उदासी के
नीले वातावरण में
अकेले सुर्ख बादल की बुझती हुई कोरों को
देखता-सा खड़ा है कि
उसके हरे-भरे तरु-व्यक्तित्व के उर में
घरों से उठे हुए नीले-से बल खाते धुँए की
अपनेपन-सी प्यारी व तीखी-सी गरम गन्ध
समाकर
उकसाती है अब भी क्या गहरी कहानियाँ ?

[अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1945-46। अप्रकाशित]

अछूत कौन और कैसे?

■ डॉ. भीमराव अंबेडकर

अहिन्दुओं में अछूतपन

विषय की गहराई में उतरने से पहले कुछ आरंभिक प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक है। पहला प्रश्न है, क्या संसार में केवल हिन्दू ही हैं जो अछूतपन मानते हैं? यदि अहिन्दुओं में भी अछूतपन है, तो हिंदुओं के अछूतपन और अहिंदुओं के अछूतपन में क्या अंतर है? दुर्भाग्य से अभी तक किसी ने ऐसा तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया। इसी का परिणाम है कि यद्यपि अनेक लोग यह जानते हैं कि हिंदुओं में अछूतपन है, किंतु वे यह नहीं जानते कि इसका अनोखापन क्या है? इसके अनोखेपन और इसकी विशेषताओं को यथार्थ रूप से समझ लेने से ही अछूतों की यथार्थ स्थिति समझ में आ सकती है और उसी से अछूतपन की उत्पत्ति भी जानी जा सकती है।

यह अच्छा ही होगा कि पहले हम इस बात की जांच करें कि आरंभिक और प्राचीन समाज में स्थिति क्या थी? क्या वे अछूतपन को स्वीकार करते थे? सबसे पहले हमें बात स्पष्ट होनी चाहिए कि वे अछूतपन से क्या समझते थे? इस बारे में सभी का एक ही मत होगा, सभी इस बात को स्वीकार करेंगे कि अछूतपन का आधार गन्दगी, अपवित्रता तथा 'छूत' लग जाने की कल्पना और उससे मुक्त होने के तरीके तथा साधन हैं।

जब आरम्भिक समाज के सामाजिक जीवन की परीक्षा इस उद्देश्य से की जाती है कि हमें पता लगे कि वे लोग उपर्युक्त अर्थ में अछूतपन से परिचित थे या नहीं, तो इसमें सन्देह नहीं रहता कि आरम्भिक समाज केवल 'अपवित्रता' की कल्पना से परिचित ही नहीं था? किंतु इस विश्वास के कारण उसके धार्मिक क्रियाकलापों की एक जीवन पद्धति बन गयी थी।

आरम्भिक मनुष्य विश्वास करता था कि-

1. कुछ विशेष घटनाओं के घटने से,
2. कुछ विशेष वस्तुओं के स्पर्श से, और
3. कुछ विशेष व्यक्तियों के स्पर्श से अपवित्रता होती है।

आरम्भिक मनुष्य का यह भी विश्वास था कि 'अपवित्रता' एक आदमी से दूसरे आदमी में भी चली जाती है। उसे वह समझता था कि यह 'अपवित्रता' का एक से दूसरे में चला जाना विशेष अवस्थाओं में, विशेष रूप से होता है; जैसे खाने-पीने आदि के प्राकृतिक कृत्यों के समय। जीवन की जिन घटनाओं को आरम्भिक मनुष्य 'अपवित्रता' का कारण मानता था, उनमें निम्नलिखित मुख्य थी

1. जन्म 2. दीक्षा
3. बालिग होना 4. विवाह
5. संभोग 6. मृत्यु

जिन माताओं को संतान होने वाली होती वे 'अपवित्र' और दूसरे में अपवित्रता फैलाने वाली मानी जाती थीं। माताओं की 'अपवित्रता' बच्चों तक भी फैलती थी।

संस्कार और बालिक हो जाना जीवन की वे अवस्थाएँ हैं जो स्त्री-पुरुष के संपूर्ण ऐंन्द्रिय तथा सामाजिक जीवन में प्रवेश की द्योतक है। उन्हें एकांत में रहना होता था, विशेष भोजन करना होता था, बार-बार स्नान करना होता था, शरीर पर उबटन आदि लगाना और अंग-छेद भी करना होता था, जैसे खतना। अमरीका की जातियों में जिन लोगों का संस्कार होता था, वे न केवल विशेष भोजन करते थे किन्तु समय-समय पर ऐसी औषधि भी लेते थे जिससे उन्हें वमन हो जाए।

विवाह के साथ जो रीति-रिवाज़ होते थे, उनसे ऐसा मालूम होता है कि प्रारंभिक मनुष्य विवाह को पवित्र समझता था। कभी-कभी विवाहिता को अपनी जाति के आदमियों के साथ संभोग सहन करना पड़ता था जैसा कि आस्ट्रेलिया में; अथवा जाति के मुखिया या वैद्य के साथ जैसा कि अमरीका में; या पति के मित्रों द्वारा जैसा कि पूर्व-अफ्रीका की जातियों में; कभी-कभी पति तलवार से पत्नी को एक खरोंच लगाता। कभी-कभी पति से शादी होने से पहले पत्नी को वृक्ष से शादी करनी पड़ती थी, जैसे मुण्डा जाति में। ये जितने भी रीति-रस्म थे, उनका उद्देश्य इतना ही था कि वह विवाह को 'अपवित्रता' से बचाये रखे।

प्रारंभिक मनुष्य के लिए 'मृत्यु' सबसे अधिक 'अपवित्रता' का कारण थी। न केवल मृत-देह किन्तु मृत-व्यक्ति की वस्तुओं को लेना भी 'अपवित्र' होता था। औजारों और शस्त्रों को मृत व्यक्ति की देह के साथ अधिक संख्या में कब्र में गाड़ देने की प्रथा का भी यही तात्पर्य था, क्योंकि लोग उन वस्तुओं के उपयोग को खतरनाक तथा अभाग्यपूर्ण समझते थे।

वस्तुओं के स्पर्श से जो अपवित्रता पैदा होती थी, उसकी चर्चा करें, तो प्रारम्भिक मनुष्य ने यह सीख लिया था कि कुछ वस्तुएं 'पवित्र' हैं, और कुछ, अन्य 'अपवित्र'। यदि कोई आदमी किसी 'पवित्र' वस्तु को छू देता तो यही माना जाता था कि उसने उसे 'अपवित्र' कर दिया। 'पवित्र' और सामान्य लौकिक वस्तुओं के एक-दूसरे से पृथक्करण का एक बहुत ही ध्यान आकर्षित करने वाला उदाहरण 'टोड' लोक हैं, जिनके विस्तृत रीति-रस्मों तथा सामाजिक संस्थान का सारा आधार वे प्रयत्न ही हैं जो वे अपने 'पवित्र' ढोरों को, 'पवित्र' डेरी-फार्मों को, 'पवित्र' बर्तनों, 'पवित्र' दूध को और उन लोगों को जिनका काम इन रीति-रस्मों को करना है, 'पवित्र' बनाये रखने के लिए करते हैं। डेरी-फार्मों में जो 'पवित्र' बर्तन रहते हैं, वे हमेशा पृथक कमरे में रखे जाते हैं और उन बर्तनों में दूध तभी पहुँच सकता है जब पहले वह दूसरे में रखे हुए बीच के एक दूसरे बर्तन में डाले उन बर्तनों में से दूध निकाला भी नहीं जा सकता। ग्वाला जो पुरोहित भी होता है, एक

विस्तृत संस्कार के बाद ही अपना काम आरम्भ कर सकता है। इस प्रकार वह सामान्य आदमी के दर्जे से ऊँचा उठा लिया जाता है और वह उस 'पवित्र' कृत्य को करने के योग्य हो जाता है। उसको गाँव में विशेष अवसरों पर ही सोने की आज्ञा होती है और ऐसे ही दूसरे नियमों से उसका जीवन परिचालित रहता है। यदि वह 'पवित्र' ग्वाला किसी की मिट्टी के साथ चला जाए तो वह अपने 'पवित्र' कृत्य करने के अयोग्य हो जाता है। इस सबसे यही अनुमान लगाया गया है कि इनमें से अधिकांश रीतिरिवाज़ों का एक ही उद्देश्य है कि सांसारिक खतरों से रक्षा हो और 'पवित्र' वस्तु को उन लोगों के उपभोग के योग्य बनाएं जो स्वयं 'पवित्र' हैं।

इस 'पवित्रता' की भावना का सम्बन्ध केवल वस्तुओं से ही नहीं था। लोगों के कुछ ऐसे विशिष्ट वर्ग भी थे जो 'पवित्र' समझे जाते थे। कोई आदमी यदि उन्हें छू देता, तो यह उनका 'अपवित्रता' का कारण होता। 'पोलीनेशियन' लोगों में अपने से एक हीन व्यक्ति के स्पर्श से मुखिया की पवित्रता नष्ट हो जाती थी; यद्यपि ऐसा होना हीन व्यक्ति के लिए ही हानिकर था। दूसरी ओर 'इफ़ाते' में जो पवित्र आदमी संस्कार-संबंधी अपवित्रता से सम्बन्ध र खता था, उसकी पवित्रता नष्ट हो जाती थी। 'उगंडा' में एक मन्दिर के निर्माण से पहले आदमियों को चार दिन केवल इसलिए दिये गये थे कि वे अपने आपको पवित्र बना लें। दूसरी ओर मुखिया और उसकी चीज़ें प्रायः इतनी अधिक पवित्र मानी जाती रही हैं कि यदि कोई हीन दर्जे का आदमी उनको उपयोग में लाये, तो यह उसके लिए अच्छा नहीं होता। 'टोंगा' द्वीप में जो आदमी किसी मुखिया का स्पर्श करे, वह निषिद्ध हो जाएगा। यह दोष किसी बड़े अफसर के पैर तले को स्पर्श करने से दूर होगा। 'मलाया' प्रायद्वीप के मुखिया की 'पवित्रता' राजकीय चिन्ह में विराजती थी और यदि कोई उसका स्पर्श करे, तो वह गम्भीर बीमारी अथवा मृत्यु को निमन्त्रण देता था।

विदेशी लोगों से मिलने से भी आरम्भिक मनुष्य 'अछूत' बन जाते थे। दक्षिण अफ्रीका की एक जाति, व थीबा के लोगों का विश्वास है कि जो लोग अपने देश से बाहर जाते हैं, उन पर बाहरी भूतात्माओं का प्रभाव हो सकता है। विदेशी वर्जित थे; क्योंकि विदेशी देवताओं की पूजा करने से उनके बुरे प्रभाव पड़ते थे। इसलिए उन्हें या तो 'धूनी' दी जाती थी अथवा किसी दूसरे तरीके से पवित्र बनाया जाता था। 'डीयरी' और उनके पड़ोस की जातियों में स्वजातीन व्यक्ति भी जब बाहर से लौटता, तो उसके साथ-एक विदेशी का- सा ही व्यवहार होता था, और जब तक वह बैठ न जाये तब तक उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था।

अपरिचित देश से आने वालों के लिए जितना खतरा था, अपरिचित देश में जाना भी उतना ही खतरनाक था। आस्ट्रेलिया में जब एक जाति की दूसरी जाति से 'मिलनी' होती, तो वे वायुशुद्धि के लिए जलती हुई मसालें आगे-आगे लेकर चलते थे, ठीक वैसे ही स्पार्टा देश के नरेश जब युद्ध के लिए जाते तो उनके आगे-आगे वेकी की पवित्र आग चलती थी।

इसी प्रकार जो बाहर से किसी घर में प्रवेश करते थे, उन्हें चाहे पाँव के जूते उतारना ही सही, कोई-न-कोई रीति निवाहनी पड़ती थी, अन्यथा इस बात का पूरा डर था कि वे घर के लोगों को बाहर की छूत लगाकर 'अपवित्र' कर देंगे। जब भी घर का कोई आदमी किसी को छू देने से 'अपवित्र' बना देने की स्थिति में हो, तो देहली तथा चौखट पर प्रायः खून लगा दिया जाता अथवा पानी छिड़क दिया जाता था। कभी-कभी घर के दरवाजे पर घोड़े की एक नाल लटका दी जाती थी, ताकि बुरे प्रभावों से रक्षा हो और घर में सौभाग्य आये।

इसमें संदेह नहीं कि जन्म, मृत्यु तथा विवाह के साथ जितने भी रीति-रिवाज़ होते थे, उन सबका एकमात्र यही मतलब नहीं था कि ये जन्मादि 'पवित्रता' के स्रोत ही हैं; लेकिन जब और जहाँ-जहाँ भी पृथक्करण होता है, उससे इतना तो ग्रहण करना ही होता था कि वह और बातों के साथ 'अपवित्रता' का भी द्योतक है। जन्म, दीक्षा, विवाह तथा मृत्यु होने से पृथक्करण होता है और जो 'अपवित्र' हैं अथवा जो 'बाह्य' है, उसके साथ किसी प्रकार का व्यवहार होने पर भी पृथक्करण होता है।

बालक का जन्म होने पर माता को पृथक कर दिया जाता है। बालिग होने और दीक्षित होने पर भी उसे कुछ समय पृथक रहना पड़ता है। विवाह में मँगनी से लेकर विवाह-संस्कार हो जाने तक पति-पत्नी एक-दूसरे से दूर-दूर रहते हैं। स्त्री जब मासिक-धर्म में होती है, तो पृथक रहना पड़ता है। मृत्यु होने पर पृथक्करण विशेष रूप से होता है। मृत-व्यक्ति की देह ही नहीं, उसके सम्बन्धियों तक को शेष सब लोगों से दूर-दूर रहना पड़ता है। यह पृथक्करण उनके बढ़े बालों, नाखूनों और पुराने कपड़ों के पहनने से स्पष्ट होता है। इसका अर्थ हुआ कि समाज के नाई, धोबी आदि ने उनका बहिष्कार कर रखा है। पृथक्करण का समय और उसकी कड़ाई समान नहीं होती, किन्तु पृथक्करण तो होता ही है। यदि 'पवित्र' को किसी सामान्य लौकिक व्यक्ति ने 'अपवित्र' कर दिया हो, अथवा स्वजाति से ही अपवित्रता हो, अथवा स्वजाति से बाहर के किसी सम्बन्ध के कारण 'अपवित्र' उत्पन्न हुई हो, तो पृथक्करण होती ही है। सामान्य लौकिक व्यक्ति को 'पवित्र' आदमी से दूर रहना ही चाहिए। अपने सम्बन्धी को असम्बन्धी से दूर-दूर रहना चाहिए। इससे यह स्पष्ट है कि आरम्भिक समाज में 'अपवित्रता' के कारण को पृथक किया जाता था।

अपवित्रता की कल्पना के साथ-साथ आरम्भिक समाज ने 'पवित्र' बना सकने वाले रीति-रिवाज़ों की भी कल्पना कर ली थी, जो अपवित्रता को दूर भगा सकते थे। अपवित्रता को दूर करने के साधन 'पानी' और 'रक्त' हैं। जो आदमी अपवित्र हो गया हो, यदि पानी और रक्त छिड़क ले, तो वह पवित्र हो जाता है। पवित्र बनाने वाले रीति-रिवाजों में वस्त्रों का बदलना, बालों तथा नाखूनों आदि का कटाना, पसीना निकालना, आग तापना, धूनी देना, सुगन्धित पदार्थों का जलाना और किसी शाखा से फाड़-फूँक करना शामिल हैं।

ये अपवित्रता को दूर भगाने के साधन थे। किन्तु आरम्भिक समाज अपवित्रता से बचने का एक और उपाय भी जानता था। वह था, एक की अपवित्रता दूसरे पर लाद देना। यह किसी दूसरे ऐसे व्यक्ति पर जो पहले से ही वर्जित अथवा बहिष्कृत होता था, लाद दी जाती थीं

न्यूज़ीलैंड में यदि एक आदमी दूसरे के सिर को स्पर्श कर देता था, तो सिर शरीर का 'पवित्र' भाग होने के कारण, वह आदमी 'वर्जित' हो जाता था। तब उसे अपने हाथों को एक प्रकार की जड़-विशेष से

रगड़कर अपने को 'पवित्र' बनाना होता था। वह जड़-मातृ-पक्ष में जो परिवार का मुखिया होता, उसका भोजन बनाती थी। 'टाँगा' में यदि कोई आदमी 'वर्जित' भोजन ग्रहण कर लेता, तो उसके बुरे प्रभाव से बच निकलने का यही उपाय था कि वह अपने पेट पर परिवार के मुखिया का पैर रखवाये।

एक की पवित्रता दूसरे में चली जाने की कल्पना 'बलि के बछड़े' की रीति से प्रकट होती है। 'फिजी' ये यदि कोई वर्जित आदमी एक सूअर पर अपने हाथ धो देता, तो वह मुखिया के लिए पवित्र हो जाता। 'उगंडा' में जब राजा के लिए शोक मनाने का समय समाप्त होता, तो एक 'बलि के बछड़े' के साथ, एक गऊ, एक बकरी, एक कुत्ता, एक मुर्गी और राजा के घर की कुछ मिट्टी और आग 'व न यो रो' की सीमा पर पहुँचा दी जाती। वहाँ उन पशुओं को लँगड़ा-लूला बनाकर मरने के लिए छोड़ दिया जाता। इस रीति से राजा और रानी की सारी अपवित्रता दूर हो जाने का विश्वास था।

यह सब वे बातें हैं जो आरम्भिक समाज में अपवित्रता-संबंधी कल्पना का अस्तित्व सिद्ध करती हैं।

(2)

यदि हम आरंभिक समाज के बाद प्राचीन समाज का विचार करें, तो प्राचीन समाज की अपवित्रता की कल्पना आरम्भिक समाज की पवित्रता की कल्पना से कुछ विशेष भिन्न थी। अपवित्रता के स्रोत अथवा कारणों में भेद हैं। पवित्र बनने वाली रीति-रिवाज़ भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। किंतु इन भेदों के अतिरिक्त समाज और प्राचीन समाज में अपवित्रता तथा पवित्रता का जो ठप्पा है वह वही है।

मिश्र देश की अपवित्रता-पृति की यदि आरम्भिक समाज की अपवित्रता-पद्धति से तुलना की जाए, तो दोनों में केवल इतना ही अन्तर है कि मिश्र देश में यह अधिक ब्यौरेवार हो गयी।

यूनानियों में रक्त-प्रवाह, भूतावेश, मृत्यु, संभोग, बालक का जन्म, शौच, निषिद्ध भोजनों का खाना जैसे शोरबा-विशेष, मक्खन और लहसुन - अनधिकृत आदमियों का पवित्र स्थानों में चले आना और विशेष अवस्थाओं में गाली देना तथा झगड़ा करना भी अपवित्रता के कारण माने जाते थे, और पवित्रता के साधन (जिन्हें सामूहिक रूप से यूनानी 'कपोइया' कहते थे) अभिमन्त्रित जल, गन्धक, प्याज़, धूप देना, आग, कुछ पेड़ों की शाखाएं, दूसरी वनस्पति, अलकतरा, ऊन, कुछ पत्थर और ताबीज़, सूर्य-रश्मि, स्वर्ण सदृश चमकदार वस्तुएँ, बलि के पशु, विशेष रूप से सूअर और उनमें भी उनका रक्त और मांस, कुछ उत्सव और उन अवसरों पर किये जाने वाले रीति-रिवाज़, विशेष रूप से शाप देना, तथा 'बलि का बछड़ा' थे। पवित्रता का एक असाधारण तरीका अपवित्र के सिर के बाल काटना और देवता से उसका संबंध स्थापित करना भी था।

रोम-वासियों की अपवित्रता और पवित्रता की कल्पना की विशेषता रही है, प्रादेशिक और जातिगत अपवित्रता तथा पवित्रता की कल्पना। जिस प्रकार घर की पवित्रता होती थी, उसी प्रकार का एक संस्कार सारे प्रदेश को 'पवित्र' बनाने वाला भी था। प्रादेशिक पवित्रता संस्कार सारी सीमा की प्रदक्षिणा करने और बलि देने से पूरा होता था। प्राचीन समय में शहर की दीवारों के चारों ओर एक इसी प्रकार की प्रदक्षिणा होती थी। ऐतिहासिक युग में नगर के विशेष पवित्रीकरण का आयोजन किसी भी महान विपत्ति के बाद किया जाता था, जैसे द्वितीय प्युनिक युद्ध से हुए महान् विनाश के बाद। इन सारे प्रायश्चितों का मुख्य उद्देश्य देवताओं की अनुकूलता प्राप्त कर लेना मात्र था। किसी भी उपनिवेश के आरम्भ के समय शुद्धि-संस्कार होता था। सीमाओं और बाज़ारों की रक्षा भी अपने मूल-रूप में उनका 'पवित्रीकरण' ही रहा होगा। अभी पिछले समय तक पादरियों का एक वर्ग-विशेष प्राचीन रोम की सीमाओं-प्लेरिनेट की बस्ती-की प्रदक्षिणा करता था। उससे पहले वहाँ आरम्भिक नगर की प्राचीनतम सीमाओं की वार्षिक प्रदक्षिणा होती थी। इसमें 'अरबल' नामक पादरी नेतृत्व करते थे। यह प्रदक्षिणा 'अम्बरबलिया' कहलाती थी की जाती थी। जब रोम-राज्य की सीमा में वृद्धि हुई, तो ऐसा नहीं लगता कि उसी अनुपात में 'पवित्रीकरण' के संस्कार में भी वृद्धि की गई हो। ये प्रदक्षिणाएँ अन्यत्र इटली के बाहर और भीतर तथा यूनान में भी थी। मन्त्रों वाली प्रार्थनाओं के विशुद्ध उच्चारण में कुठ जादू का सा प्रभाव रहा प्रतीत होता है। इनके उच्चारण में यदि कोई अशुद्धि रह गयी, तो उसका प्रायश्चित करना होता था; जैसे प्राचीन रोम की न्याय-पद्धति में यदि धातु-रूप के उच्चारण में कोई अशुद्धि रह जाती, तो वादी अपना आरोप तथा मुकदमा ही हार जाता।

अनोखे प्राचीन रीति-रिवाज़ों के कुछ दूसरे रूप भी देवताओं को प्रसन्न करने की कल्पना के ही साथ आबद्ध थे। साली नामक प्राचीन पादरी विशेष-विशेष अवसरों पर नगर के भिन्न-भिन्न स्थानों की परिक्रमा करते थे। वे अपने हथियारों तथा बाजे-गाजे को भी 'पवित्र' करते थे जिससे आरंभिक लोगों की इस कल्पना का समर्थन होता है कि सेना के शस्त्रों के सफल प्रयोग के लिए उनका पवित्र होना आवश्यक है। सरकारी गणना जिसका अवसान पवित्रीकरण के साथ होता था, वह भी वास्तव में एक सैनिक प्रक्रिया ही थी, क्योंकि यह उस केन्द्रीय समिति-से संबंधित थी जो सामान्य वस्त्रधारी सेना ही है। यह सैनिक पवित्रीकरण सेना में कभी-कभी व्याप्त हो जाने वाले मिथ्या भय को दूर करने के लिए उसी समय होता था सेना युद्ध क्षेत्र में पहुँचती थी। अन्य अवसरों पर यह केवल रोगादि से बचाव के लिए होता था। नौसेनाओं का भी पवित्रीकरण होता था।

सभी आरम्भिक लोगों की तरह हिब्रू भी अपवित्रता की कल्पना को मानते थे। उनकी अपवित्रता की कल्पना की विशेषता उनका यह विश्वास था कि अपवित्रता गन्दे पशुओं के अस्थि-पंजर के स्पर्श अथवा उनका मृत-मांस खाने से पैदा होती है, अथवा रेंगने वाले पशुओं और सदैव गन्दे रहने वाले पशुओं के स्पर्श से। वे सब पशु जिनके खुर चिरे हैं, जो एक साथ जुड़े नहीं हैं, न जुगाली करते हैं, जो अपने पंजों के बल पर चलते हैं, और चारों टाँगों पर चलने वाले सभी प्रकार के पशुओं से अपवित्रता पैदा होती है। किसी गन्दे आमी से स्पर्श होना भी हिब्रू लोगों के लिए अपवित्रता थी। हिब्रू लोगों की अपवित्रता की दो और विशेषताएँ भी कही जा सकती हैं । वे मानते थे कि मूर्ति-पूजा भी अपवित्रता का कारण हो सकती है, और लोगों की लैंगिक अशुद्धता से प्रदेश-का-प्रदेश अपवित्र हो जाता है।

इस विस्तृत ब्यौरे के बाद हम सार-रूप में कह सकते हैं कि आरम्भिक समाज अथवा प्राचीन समाज के लोगों में कोई ऐसे नहीं हुए, जो अपवित्रता की कल्पना को न मानते रहे हों।

जातिवाद और हिन्दुत्व

■ पेरियर रामस्वामी नायकर

(कोयम्बटूर के सन् 1958 में महामानव पेरियर द्वारा दिये गये भाषण से उद्धरित)

मैं क्या हूँ? मैं क्या उपदेश देता हूँ?

प्रथम-मुझको ईश्वर तथा अन्य देवताओं में आस्था नहीं है।

द्वितीय-विश्व के संगठित धर्मों से मुझे घृणा है।

तृतीय-शास्त्र, पुराण, और उनमें वर्णित देवताओं में-मेरी कोई आस्था नहीं है, क्योंकि वे सब सदोष हैं। उनको जलाने और नष्ट करने के लिए मैं जनता का आह्वान करता हूँ।

मैंने यह सब कुछ कहा है और मैंने पिल्लाल्यर तथा विनायक की मूर्तियाँ तोड़ डाली हैं तथा राम के चित्र भी जला डाले हैं। मेरे इन कार्यों के बावजूद मेरी सभा में मेरे भाषण को सुनने के लिए यदि हज़ारों की संख्या में जनता एकत्रित होती है, तो यह स्पष्ट है कि स्वात्माभिमान तथा बुद्धि का अनुभव जनता में आने लगा है।

द्रविड़ कजगम आन्दोलन का क्या अभिप्राय है? इसका लक्ष्य एक ही है इस निकम्मी हिन्दू वर्ण-व्यवस्था का अन्त कर देना, जिसके कारण समाज ऊंच और नीच जातियों में बाँट दिया गया है। इस प्रकार द्रविड़ कजगम आन्दोलन उन शास्त्रों, पुराणों तथा देवी देवताओं में श्रद्धान नहीं करता जो वर्णव्यवस्था को येन केन प्रकारेण बनाये हुए हैं।

राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्ति के बहुत पश्चात् सन् 1958 तक वर्ण-व्यवस्था तथा जातिगत भेद-भाव की नीति ने जनता के जीवन पर अपना शासन बनाये रखने के कारण देश के पिछड़ेपन को प्रमाणित कर दिया। किसी और देश में इस प्रकार जाति विभेद के कारण जनता हजारों की संख्या में विभाजित नहीं है। आश्चर्य है कि समझदार लोग इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते हैं। वास्तविक स्वार्थ तत्परता का दौर इस देश के नेताओं में है। कुछ लोग, जो राष्ट्रीयता तथा राजनीतिक पार्टी के आधार पर अपने को समाजसेवी कहते हैं, भारत की वास्तविक समस्याओं की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते। जिन कारणों के सहारे देशवासी पिछड़ी स्थिति में हैं उन कारणों के आधार पर वे अपनी आजीविका चलाते हैं। राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद दूसरे देश के लोगों ने राष्ट्रीय विकास तथा सामाजिक सुधार की ओर बड़े वेग से उन्नति की है।

देश में द्रविड़ कजगम को छोड़कर क्या कोई दूसरी ऐसी संस्था है जिसने वर्ण-व्यवस्था को हटाने की स्पष्ट माँग की हो। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो वर्ण-व्यवस्था का अन्त करने वाले हमारे इस आन्दोलन के प्रति हमें बधाई देते हैं और हमारी प्रशंसा करते हैं, परन्तु खुले हृदय से इस व्यवस्था के विरुद्ध जनता के सामने जाने का साहस नहीं करते। इसी कारण अन्धविश्वास, मिथ्या दर्शन तथा असभ्य चलन हमारे विश्वासशील लोगों पर अपना शासन जमाये हुए हैं। जिस समय भारतीय सभ्यता के शिखर पर थे, उस समय पश्चिम की जातियां जो असभ्य थीं, अब भारतीय जातियों से कहीं अधिक सभ्य हो गई हैं। कुछ अधिक समय नहीं हुआ जबकि यूरोप के गौरांग लोग अपनी आजीविका के हेतु वनों में चर्म और वृक्षों की छाल से अपने शरीर को ढक कर घूमते फिरते थे। वे नदियों में मछलियां पकड़ते और जंगलों में शिकार खेलते थे। स्त्री-पुरुष का संबंध व्याभिचार-पूर्ण था। पाक विधि की जानकारी के अभाव में, वे पशुओं की भांति कच्ची शाक भाजी खाते थे। आजकल वे क्या हैं? महान चमत्कार पूर्ण अनेक वस्तुओं की खोज करके आज वे देवतुल्य माने जाते हैं। विद्युत, रेडियो, टेलीविजन, टेलीफोन, रेलवे तथा हवाई जहाज आदि का आविष्कार इन्होंने ही किया है। उन्होंने बनावटी चाँदी को आकाश में भेजा है और वहीं रहने के लिए घर बना रहे हैं।

यूरोप निवासियों की अपेक्षा भारतीय किस बात में कम हैं? प्राचीन काल में भारत के लोगों ने अनेक चमत्कार-पूर्ण अन्वेषण किये और प्रकृति के स्वर में स्वर मिलाते रहे। लेकिन इसके पश्चात् देवी-देवताओं में मिथ्या श्रद्धान, धार्मिक

अनुष्ठान, जात-पाँत भेदभाव तथा अन्धविश्वास के कारण स्वतंत्र चिंतन का सदुपयोग न रहा। धर्म पुरोहितों ने विवेक तथा बुद्धि को अपना बन्दी बना लिया। जिस किसी ने ईश्वर, देवी-देवताओं, शास्त्रों तथा पुराणों के विरुद्ध अपनी आवाज बुलंद की, उसी को नास्तिक कहकर अहिन्दू तथा समाज विरोधी प्रतिक्रियावादी की संज्ञा दी गई। 'आत्मसम्मान' आंदोलन प्रारंभ होने के पूर्व किसी को इन देवी-देवताओं तथा अन्ध-विश्वासों के प्रति आवाज उठाने का साहस नहीं हुआ।

जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं न तो ईश्वर के अस्तित्व और न उसके नास्तिक के विषय में कहता हूँ। मैं यह भी नहीं कहता कि इस गम्भीर समस्या पर पूर्ण-रूपेण मनन किये बिना जनता मेरी बात मान ले। नास्तिकता मनुष्य के लिए कोई सरल स्थिति नहीं है। कोई भी मूर्ख अपने को आस्तिक कह सकता है। ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने में कोई बुद्धिमत्ता की आवश्यकता नहीं है। लेकिन नास्तिकता के लिए बड़े साहस और दृढ़ विश्वास की जरूरत है। यह स्थिति उन्हीं लोगों के लिए सम्भव है जिनके पास तर्क तथा बुद्धि की शक्ति हो और जो अपनी स्थिति के विषय में दूसरों को विश्वास दिला सके। नास्तिकता में अन्ध-विश्वास को कोई स्थान नहीं है।

मेरा जहाँ तक विश्वास है, संसार में लाखों मनुष्यों ने ईश्वर के प्रति आस्था खो दी है। श्रद्धालु अधिक संख्या में अवश्य है। क्रिश्चियन तथा इस्लाम धर्मावलम्बी एक ईश्वर में विश्वास करते हैं। ईश्वर अमूर्तिक है। न इसका नाम है, न रंग, न रूप और न इसकी कोई इच्छा है। हम क्यों नहीं इसी प्रकार के ईश्वर को मानते हैं? हमारे लिए हजारों ईश्वर की सत्ता की क्या आवश्यकता है? अगर हम इन ईश्वरों के नाम लिखना प्रारम्भ करें तो हमारी लेखनी की स्याही सूख जायेगी परन्तु नामावली समाप्त नहीं होगी। इन देवी-देवताओं का आरम्भ कहाँ से है? किसी धर्म पुरोहित से पूछने पर वह इनका उद्गम स्थान पुराण बतायेगा। अगर वर्तमान युग विवेक और बुद्धिवाद युग न होता तो सम्भवतः मार्ग पर लगे जितने भी मीलों के पत्थर हैं वे भी देवी-देवताओं में परिणित हो जाते और तब यात्रियों को आश्चर्य होता। किसी सफेद पत्थर को लाल और पीले रंग से चुपड़कर उसे घर में खड़ा कर उसमें किसी देवता की स्थापना कर लेना हिन्दू के लिए अधिक कठिन नहीं है। क्या कभी जनता ने ऐसे मस्त देवी-देवताओं के विषय में सोचा है? लगभग सभी सुन्दर रूप वाले पशु-पक्षी देवता बन गए हैं। हाथी, सूअर, मछलियां, तथा सर्प केवल पवित्र ही नहीं, अपितु मानव शरीर और मस्तिष्क पर धारण होने पर उनका आदरणीय समझा जाता है। कुछ देवी-देवता आधे पुरुष और आधे पशु के रूप में क्यों हैं? स्त्रियां बांबियों में दूध चढ़ाती हैं, आकाश में ऊंचे उड़ते हुए गिद्धों के कपोलों को पवित्र माना जाता है, मार्ग में चली जा रही गाय को स्पर्श किया जाता है और राहगीर उसकी पूजा करते हैं, देवताओं के एक से लेकर दस तक चेहरे होते हैं और कहीं ये चेहरे बाहर की ओर फूले हुए तथा भीतर की ओर धंसे हुए इस प्रकार नाना आकृति के होते हैं। ये सब आकृतियाँ देवताओं की किस लिए हैं? उनका क्या काम है? इस प्रकार के देवताओं के प्रदर्शन का क्या औचित्य है? जनता इन बातों की ओर क्यों नहीं तर्क और विवेक से काम लेती है?

हमको यह कहा जाता है कि हमारे पूर्वजों ने कुछ पशुओं और पक्षियों को देवताओं की संज्ञा इसलिए दी है कि हम उनका आदर करें और उनके साथ दयालुता का व्यवहार रखें। यह व्याख्या बेकार है। दूसरे देशों में, जहां गाय, बन्दर, कुत्ते और चूहों को पूजा नहीं जाता, वहां उनके साथ क्या बुरा बर्ताव किया जाता है? भारतीय पशु संसार के पशुओं की अपेक्षा सबसे अधिक क्षुधा-पीड़ित रहता है। उनकी कोई चिंता नहीं की जाती और उनहें सड़कों पर यों ही छुट्टा छोड़ दिया जाता है। परिणामतः उनका पेट नहीं भरता और उनकी धीरे-धीरे शीघ्र मृत्यु हो जाती है। सांडों को धार्मिक एवं पवित्र मानकर सड़क पर छुट्टा छोड़ दिया जाता है और वे पटरी पर बैठने वाले दुकानदारों तथा खोन्चा बेचने वालों को हैरान-परेशान करते हैं। बन्दरों को भी देवता मानकर उनकी पूजा की जाती है। राम के इन भक्त दूतों को भारत में मारा नहीं जाता। वे घरों में, मंदिरों और बाग-बगीचों में हज़ारों रुपयों का नुक़सान कर डालते हैं। वनस्पति तथा फलों के रूप में खाद्यान्न की एक विशाल राशि व्यर्थ में नष्ट कर दी जाती है। इस बात की किसी को कुछ चिंता नहीं।

गौवध की धुन ने भारत में खाद्यान्न की बड़ी बारी समस्या में एक और योग लगा दिया है। परिणामतः प्रतिवर्ष लाखों मन खाद्यान्न अमेरिका तथा अन्य देशों से आयात कर

देश की दिवालिया वित्त नीति को बढ़ावा दिया जा रहा है और इस प्रकार धन का बहाव बड़े वेग से देश से बाहर हो रहा है। लेकिन इसकी कोई चिंता नहीं करता।

दो हज़ार वर्ष पूर्व महात्मा बुद्ध ने हिन्दू-धर्म के ज़हरीले अंगों से छुटकारा पाने के लिए जनता के मस्तिष्क को स्वतंत्र करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने जनता से क्यों, कैसे और क्या प्रश्न किये और वस्तु के यथार्थ गुण और स्वभाव की समीक्षा की। उन्होंने वेदों को व्यर्थता की संज्ञा दी थी। उन्होंने किसी भी वस्तु पर किसी भी ऋषि तथा महात्मा का अधिकार स्वीकार नहीं किया। उन्होंने जनता को अपनी जीवित भाषाओं में आत्मचिंतन करने तथा जीवन के साधारण सत्य को समझने का उपदेश दिया। परिणाम क्या हआ? ऐसे उपदेशकों को मौत के घाट उतारा गया, उनकी स्त्रियों का अपमान किया गया और उनके घर द्वार फूँक दिये गये। बुद्ध धर्म के लोप हो जाने के बाद भारत से विवेकवाद समाप्त हो गया। बुद्ध की जन्म भूमि पर बुद्ध धर्म का प्रसार न हो सका। यह चीन और जापान चला गया जहां पर इसने विध्वंस के अतिरिक्त इन देशों को महान बनाया। राष्ट्रीय चरित्र अनुशासन, शुद्धता, ईमानदारी, तथा अतिथि सत्कार में कौन देश जापान की समानता कर सकता है?

ईसा के प्रारंभिक वर्षों में बुद्ध के बाद महान थिरुवेल्यूवर का जन्म भारत में हुआ। उन्होंने भी वही उपदेश दिया जो महात्मा बुद्ध ने दिया था। उनका अमूल्य तिरुकुरल कूड़े वाली टोकरी में फैंक दिया गया और गीता तथा मनु शास्त्र का आलिंगन किया गया। हमारे देश के शंकराचार्यो का मान बढ़ाया गया बिना यह समझे कि वे देव-रहित हैं, उनमें देवताओं के कोई भी गुण नहीं हैं आदिवेता ने समस्त देवताओं में एक ही ईश्वर को माना है जबकि शंकराचार्य ने स्वयं अपने को ईश्वर की संज्ञा प्रदान की है। उनके लिए फिर ईश्वर की क्या आवश्यकता रही-उनके शरीर की विभूति, शक्ति के रूप में देवियों की पूजा, और गेरुआ वस्त्रों का पहनाव ये सब जनता को धोखा देने और अपने शून्यवाद सिद्धांत को छलने के निमित्त हैं।

ईश्वर किस प्रकार और क्यों जन्म-मरण करता है? समस्त देवताओं को देखो। राम का जन्म नवमी तिथि को हुआ, सुब्रामनिया का जन्म षष्ठी तिथि को हुआ, और कृष्ण का जन्म अष्ठमी को हुआ, पुराणों के अनुसार इन सब ईश्वर तुल्य देवों की मृत्यु हुई। इस कथन के उपरान्त भी हम क्या इनकी पूजा देव समझ कर करते रहें? ईश्वर की पूजा क्यों करना चाहिए? ईश्वर को भोग लगाने का क्या औचित्य है? प्रतिदिन उसका अभिषेक करके नवीन वस्त्रों से उसे क्यों अलंकृत किया जाता है? यहां तक कि पुरुषों द्वारा देवियों को नग्न करके स्नान कराया जाता है। इस अश्लीलता के कारण न तो देवियों को स्वयं और न उनके भक्तों को ही क्रोध आता है।

देवताओं को स्त्रियों की क्या आवश्यकता है? प्रायः वे एक स्त्री से संतुष्ट नहीं होते। कभी-कभी तो उन्हें रखैल या वेश्या की भी आवश्यकता होती है। विरूपती में क्यों देवता मुस्लिम वेश्या (नछैयर) के यहाँ जाने की इच्छा करते हैं और क्यों प्रतिवर्ष ये देवता अपना विवाह सम्पन्न करते हैं। गतवर्ष के विवाह का क्या परिणाम होता है? उनका कब तलाक होता है? कौन सा न्यायालय उनके इस विवाह विच्छेद की स्वीकृति देता है? क्या इन तमाम देवताओं के खिलवाड़ ने हमारी जनता को अधिक बुद्धिमान, अधिक शुद्ध और अधिक एकता के सूत्र में बांधा है?

ईसाई, मुस्लिम और बौद्ध-धर्म के देवतागत दया, अनुग्रह, सृजनता तथा परोपकारिता के अवतार माने जाते हैं। क्रिश्चियन और बौद्ध-धर्म की मूर्ति पूजा इन गुणों को प्रकट करती है। हमारे देवताओं को देखिये। एक देवता एक भाला लिए हुए है, दूसरा धनुष-बाण तो दूसरे अन्य देवता गदा, खंजर तथा ढाल से सुशोभित है। ये सब क्यों? एक देवता के सदा अंगुली के चारों ओर चक्र नाचा करता है। किसका वध करने के लिए? अगर प्रेम और अनुग्रह मनुष्य के हृदय पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, तो इन हिंसक शस्त्रों की क्या आवश्यकता है?

स्पष्टतः हमारे देवता बुराई पर विजय प्राप्त करने हेतु इन हिंसक अस्त्रों का उपयोग करते हैं। क्या इनमें उन्हें सफलता मिली है? हम आजकल के समय में रह रहे हैं। क्या यह वर्तमान समय इन देवताओं के लिए उपयुक्त नहीं है कि वे आधुनिक अस्त्रों से अपने को सुसज्जित करें और धनुष बाण के स्थान पर मशीनगन तथा बन्दूक धारण करें? रथ को छोड़कर श्रीकृष्ण टैंक पर सवार नहीं हो सकते? मैं पूछता हूँ कि जनता इस एटोमिक युग में देवताओं पर विश्वास करते हुए लजाती क्यों नहीं है।

अछूत समस्या

■ भगत सिंह

(काकीनाड में 1923 में कांग्रेस-अधिवेशन हुआ। मुहम्मद अली जिन्ना ने अपने अध्यक्षीय भाषण में आजकल की अनुसूचित जातियों को, जिन्हें उन दिनों 'अछूत' कहा जाता था, हिन्दू और मुस्लिम मिशनरी संस्थाओं में बांट देने का सुझाव दिया। हिन्दू और मुस्लिम अमीर लोग इस वर्गभेद को पक्का करने के लिए धन देने को तैयार थे।

इस प्रकार अछूतों के यह 'दोस्त' उन्हें धर्म के नाम पर बांटने की कोशिशें करते थे। उसी समय जब इस मसले पर बहस का वातावरण था, भगतसिंह ने 'अछूत का सवाल' नामक लेख लिखा। इस लेख में रमिक वर्ग की शक्ति व सीमाओं का अनुमान लगाकर उसकी प्रगति के लिए ठोस सुझाव दिए गए हैं। भगतसिंह का यह लेख जून, 1928 के 'किरती' में विद्रोही नाम से प्रकाशित हुआ था। -सं.)

हमारे देश-जैसे बुरे हालात किसी दूसरे देश के नहीं हुए। यहां अजब-अजब सवाल उठते रहते हैं। एक अहम सवाल अछूत-समस्या है। समस्या यह है कि 30 करोड़ की जनसंख्या वाले देश में जो 6 करोड़ लोग अछूत कहलाते हैं, उनके स्पर्श मात्र से धर्म भ्रष्ट हो जाएगा। उनके मन्दिरों में प्रवेश से देवगण नाराज हो उठेंगे। कुंए से उनके द्वारा पानी निकालने से कुंआ अपवित्र हो जाएगा। ये सवाल बीसवीं सदी में किये जा रहे हैं, जिन्हें कि सुनते ही शर्म आती है।

हमारा देश बहुत अध्यात्मवादी है, लेकिन हम मनुष्य को मनुष्य का दर्जा देते हुए भी झिझकते हैं जबकि पूर्णतया भौतिकवादी कहलाने वाला यूरोप कई सदियों से इन्कलाब की आवाज़ उठा रहा है। उन्होंने अमेरिका और फ्रांस की क्रांतियों के दौरान ही समानता की घोषणा कर दी थी। आज रूस ने भी हर प्रकार का भेदभाव मिटाकर क्रांति के लिए कमर कसी हुई है। हम सदा ही आत्मा-परमात्मा के वजूद को लेकर चिन्तित होने तथा इस जोरदार बहस में उलझे हुए हैं कि क्या अछूत को जनेऊ दे दिया जाएगा? वे वेद शास्त्र पढ़ने के अधिकारी हैं अथवा नहीं? हम उलाहना देते हैं कि हमारे साथ विदेशों में अच्छा सलूक नहीं होता। अंग्रेजी शासन हमें अंग्रेजों के समान नहीं समझता लेकिन क्या हमें यह शिकायत करने का अधिकार है?

सिन्ध के एक मुस्लिम सज्जन श्री नूर मुहम्मद ने, जो बम्बई कौंसिल के सदस्य हैं, इस विषय पर 1926 में खूब कहा-

"If the Hindu Society refuses to allow other human beings, fellow creatures so that to attend public schools, and if…the president of local board representing so many lakhs of people in this houses refuses to allow his fellows and brothers the elementary human right of having water to drink, what right have they to ask for more rights from the bureaucracy? Before we accuse people coming from other lands, we should see how we ourselves behave toward our own people…How can we ask for greater political rights when we ourselves deny elementary rights of human beings.

वे कहते हैं कि जब तुम एक इन्सान को पीने के लिए पानी देने से भी इनकार करते हो, जब तुम उन्हें स्कूल में भी पढ़ने नहीं देते तो तूम्हें क्या अधिकार है कि अपने लिए अधिक अधिकारों की मांग करो? जब तुम एक इन्सान को समान अधिकार देने से भी इनकार करते हो तो तुम अधिक राजनीतिक अधिकार मांगने के अधिकारी कैसे बन गए?

बात बिल्कुल खरी है। लेकिन यह क्योंकि एक मुस्लिम

ने कही है इसलिए हिन्दू कहेंगे कि देखो, वह उन अछूतों को मुसलमान बनाकर अपने में शामिल करना चाहते हैं।

जब तुम उन्हें इस तरह पशुओं से भी गया-बीता समझोगे तो वह जरूर ही दूसरे धर्मों में शामिल हो जाएंगे, जिनमें उन्हें अधिक अधिकार मिलेंगे, जहां उनसे इन्सानों-जैसा व्यवहार किया जाएगा। फिर यह कहना कि देखो जी, ईसाई और मुसलमान हिन्दू कौम को नुक़सान पहुंचा रहे हैं, व्यर्थ होगा।

कितना स्पष्ट कथन है, लेकिन यह सुनकर सभी तिलमिला उठते हैं। ठीक इसी तरह की चिन्ता हिन्दुओं को भी हुई। सनातनी पंडित भी कुछ-न-कुछ इस मसले पर सोचने लगे। बीच-बीच में बड़े 'युगान्तकारी' कहे जाने वाले भी शामिल हुए। पटना में हिन्दू महासभा का सम्मेलन लाला लाजपतराय- जो कि अछूतों के बहुत पुराने समर्थक चले आ रहे हैं-की अध्यक्षता में हुआ, तो जोरदार बहस छिड़ी। अच्छी नोंक-झोंक हुई। समस्या यह थी कि अछूतों को यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार है? बड़े-बड़े समाज-सुधारक तमतमा गए, लेकिन लाला जी ने सबको सहमत कर दिया तथा यह दो बातें स्वीकृत कर हिन्दू धर्म की लाज रख ली। वरना जरा सोचो, कितनी शर्म की बात होती। कुत्ता हमारी गोद में बैठ सकता है। हमारी रसोई में निःसंग फिरता है, लेकिन एक इन्सान का हमसे स्पर्श हो जाए तो बस धर्म भ्रष्ट हो जाता है। इस समय मालवीय जी जैसे बड़े समाज सुधारक, अछूतों के बड़े प्रेमी और न जाने क्या-क्या पहले एक मेहतर के हाथों गले में हार डलवा लेते हैं, लेकिन कपड़ों सहित स्नान किये बिना स्वयं को अशुद्ध समझते हैं। क्या खूब यह चाल है। सबको प्यार करने वाले भगवान की पूजा करने के लिए मन्दिर बना है लेकिन वहां अछूत जा घुसे तो वह मन्दिर अपवित्र हो जाता है। भगवान रुष्ट हो जाता है। घर की जब यह स्थिति हो तो बाहर हम बराबरी के नाम पर झगड़ते अच्छे लगते हैं? तब हमारे इस रवैये में कृतघ्नता की भी हद पाई जाती है। जो निम्नतम काम करके हमारे लिए सुविधाओं को उपलब्ध कराते हैं उन्हें ही हम दुरदुराते हैं। पशुओं की हम पूजा कर सकते हैं, लेकिन इन्सान को पास नहीं बिठा सकते।

आज इस सवाल पर बहुत शोर हो रहा है। उन विचारों पर आजकल विशेष ध्यान दिया जा रहा है। देश में मुक्ति कामना जिस तरह बढ़ रही है, उसमें साम्प्रदायिक भावना ने और कोई लाभ पहुंचाया हो अथवा नहीं लेकिन एक लाभ जरूर पहुंचाया है। अधिक अधिकारों की मांग के लिए अपनी-अपनी कौम की संख्या बढ़ाने की चिन्ता सभी को हुई। मुस्लिमों ने जरा ज़्यादा जोर दिया। उन्होंने अछूतों को मुसलमान बनाकर अपने बराबर अधिकार देने शुरू कर दिये। इससे हिन्दुओं के अहं को चोट पहुंची। स्पर्धा बढ़ी। फसाद भी हुए। धीरे-धीरे सिखों ने सोचा कि हम पीछे न रह जाएं। उन्होंने भी अमृत छकाना आरम्भ कर दिया। हिन्दू-सिखों के बीच अछूतों के जनेऊ उतारने या केश कटवाने के सवालों पर झगड़े हुए। अब तीनों कौमें अछूतों को अपनी-अपनी ओर खींच रही हैं। इसका बहुत शोर-शराबा है। उधर ईसाई चुपचाप उनका रुतबा बढ़ा रहे है। चलो, इस सारी हलचल से ही देश के दुर्भाग्य की लानत दूर हो रही है।

इधर जब अछूतों ने देखा कि उनकी वजह से इनमें फसाद हो रहे हैं तथा उन्हें हर कोई अपनी-अपनी खुराक समझ रहा है तो वे अलग ही क्यों न संगठित हो जाएं? इस विचार के अमल में अंग्रेजी सरकार का कोई हाथ हो अथवा न हो लेकिन इतना अवश्य है कि इस प्रचार में सरकारी मशीनरी का काफी हाथ था। आदि धर्म मण्डल जैसे संगठन उस विचार के प्रचार का परिणाम है।

अब एक सवाल और उठता है कि इस समस्या का सही निदान क्या हो? इसका जवाब बड़ा अहम है। सबसे पहले निर्णय कर लेना चाहिए कि सब इन्सान समान हैं तथा न तो जन्म से कोई भिन्न पैदा हुआ और न कार्य-विभाजन से। अर्थात् क्योंकि एक आदमी गरीब मेहतर के घर पैदा हो गया है, इसलिए जीवन भर मैला ही साफ करेगा और दुनिया में किसी तरह के विकास का काम पाने का उसे कोई हक नहीं है, ये बातें फिज़ूल हैं। इस तरह हमारे पूर्वज आर्यों ने इनके साथ ऐसा अन्यायपूर्ण व्यवहार किया तथा उन्हें नीच कहकर दुत्कार दिया एवं निम्नकोटि के कार्य करवाने लगे। साथ ही यह भी चिन्ता हुई कि कहीं ये विद्रोह न कर दें, तब पुनर्जन्म के दर्शन का प्रचार कर दिया कि यह तुम्हारे पूर्व जन्म के पापों का फल है। अब क्या हो सकता है? चुपचाप दिन गुजारें। इस तरह उन्हें धैर्य का उपदेश देकर वे लोग उन्हें लम्बे समय तक के लिए शान्त करा गए। लेकिन उन्होंने बड़ा पाप किया। मानव के भीतर की मानवीयता को समाप्त कर दिया। बहुत दमन और अन्याय किया गया। आज उस सबके प्रायश्चित का वक्त हैं

इसके साथ एक दूसरी गड़बड़ी हो गई। लोगों के मनों में आवश्यक कार्यों के प्रति घृणा पैदा हो गई। हमने जुलाहे को भी दुत्कारा। आज कपड़ा बुनने वाले भी अछूत समझे

जाते हैं। यू.पी. की तरफ कहार को भी अछूत समझा जाता है। इससे बड़ी गड़बड़ी पैदा हुई। ऐसे में विकास की प्रक्रिया में रुकावटें पैदा हो रही हैं।

इन तबकों को अपने समक्ष रखते हुए हमें चाहिए कि हम न इन्हें अछूत कहें और न समझें। बस, समस्या हल हो जाती है। नौजवान कांग्रेस ने जो ढंग अपनाया है, वह काफी अच्छा है। जिन्हें आज तक अछूत कहा जाता रहा उनसे अपने पापों के लिए क्षमायाचना करनी चाहिए तथा अपने जैसा इन्सान समझना, बिना अमृत छकाए, बिना कलमा पढ़ाए या शुद्धि किए उन्हें अपने में शामिल करके उनके हाथ से पानी पीना, यही उचित ढंग है। और आपस में खींचतान करना और व्यवहार में कोई भी हक न देना, कोई ठीक बात नहीं है।

जब गांवों में मजदूर-प्रचार शुरू हुआ उस समय किसानों को सरकारी आदमी यह बात समझाकर भड़काते थे कि देखो, यह भंगी-चमारों को सिर चढ़ा रहे हैं और तुम्हारा काम बन्द करवाएंगे। बस किसान इतने में ही भड़क गए। उन्हें याद रहना चाहिए कि उनकी हालत तब तक नहीं सुधर सकती जब तक कि वे इन गरीबों को नीच और कमीन कहकर अपनी जूती के नीचे दबाए रखना चाहते हैं। अक्सर कहा जाता है कि वह साफ नहीं रहते। इसका उत्तर साफ है-वे गरीब हैं। गरीबी का इलाज करो। ऊंचे-ऊंचे कुलों के गरीब लोग भी कोई कम गन्दे नहीं रहते। गन्दे काम करने का बहाना भी नहीं चल सकता, क्योंकि माताएं बच्चों का मैला साफ करने से मेहतर तथा अछूत तो नहीं हो जातीं।

लेकिन यह काम उतने समय तक नहीं हो सकता जितने समय तक कि अछूत कौमें अपने आपको संगठित न कर लें। हम तो समझते हैं कि उनका स्वयं को अलग करना संगठनबद्ध करना या मुस्लिमों के बराबर गिनती में होने के कारण उनके बराबर अधिकारों की मांग करना बहुत आशाजनक संकेत हैं। या तो सांप्रदायिक भेद का झंझट ही खत्म करो, नहीं तो उनके अलग अधिकार उन्हें दे दो। कोंसिलों और असेम्बलियों का कर्तव्य है कि वे स्कूल कालेज, कुएं तथा सड़क के उपयोग की पूरी स्वतन्त्रता उन्हें दिलाएं। जबानी तौर पर ही नहीं, वरन् उन्हें साथ ले जाकर उन्हें कुओं पर चढ़ाएं। उनके बच्चों को सकूलों में प्रवेश दिलाएं। लेकिन जिस लेजिस्लेटिव में बालविवाह के विरुद्ध पेश किए बिल तथा मजहब के बहाने हाय-तौबा मचाई जाती है, वहां वे अछूतों को अपने साथ शामिल करने का साहस कैसे कर सकते हैं?

इसलिए हम मानते हैं कि उनके अपने जन-प्रतिनिधि हों। वे अपने लिए अधिक अधिकार मांगें। हम तो साफ कहते हैं कि उठो, अछूत कहलाने वाले असली जनसेवकों तथा भाइयों! उठो, अपना इतिहास देखो। गुरु गोविन्दसिंह की फौज की असली शक्ति तुम्हीं थे। शिवाजी तुम्हारे भरोसे ही सब कुछ कर सके, जिस कारण उनका नाम आज भी जिन्दा है। तुम्हारी कुर्बानियां स्वर्णाक्षरों में लिखी हुई हैं। तुम जो नित्य प्रति सेवा करके जनता के सुखों में बढ़ोतरी करके और जिन्दगी संभव बनाकर यह बड़ा भारी अहसान कर रहे हो, उसे हम लोग नहीं समझते। लैण्ड-एलियेनेशन एक्ट के अनुसार तुम धन एकत्र कर ज़मीन भी नहीं खरीद सकते। तुम पर इतना जुल्म हो रहा है कि मिस मेयो मनुष्यों से भी कहती हैं - उठो, अपनी शक्ति पहचानो। संगठनबद्ध हो जाओ। असल में स्वयं कोशिश किए बिना कुछ भी न मिल सकेगा। (Those who would be free must themselves strike the blow.) स्वतंत्रता के लिए स्वाधीनता चाहने वालों को यत्न करना चाहिए। इन्सान की धीरे-धीरे कुछ ऐसी आदतें हो गई हैं कि वह अपने लिए तो अधिक अधिकार चाहता है, लेकिन जो उनके मातहत हैं उन्हें वह अपनी जूती के नीचे ही दबाए रखना चाहता है। कहावत है-'लातों के भूत बातों से नहीं मानते।' अर्थात् संगठनबद्ध हो अपने पैरों पर खड़े होकर पूरे समाज को चुनौती दे दो। तब देखना, कोई भी तूम्हें तुम्हारे अधिकार देने से इन्कार करने की जुर्रत न कर सकेगा। तुम दूसरों की खुराक मत बनो। दूसरों के मुंह की ओर न ताको। लेकिन ध्यान रहे, नौकरशाही के झांसे में मत फंसना। यह तुम्हारी कोई सहायता नहीं करना चाहती, बल्कि तूम्हें अपना मोहरा बनाना चाहती है। यही पूंजीवादी नौकरशाही तुम्हारी गुलामी और गरीबी का असली कारण है। इसलिए तुम उसके साथ कभी न मिलना। उसकी चालों से बचना। तब सबकुछ ठीक हो जाएगा। तुम असली सर्वहारा हो... संगठनबद्ध हो जाओ। तुम्हारी कुछ भी हानि न होगी। बस गुलामी की जंजीरें कट जाएंगी। उठो, और वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध बगावत खड़ी कर दो। धीरे-धीरे होने वाले सुधारों से कुछ नहीं बन सकेगा। सामाजिक आन्दोलन से क्रांति पैदा कर दो तथा राजनीतिक और आर्थिक क्रांति के लिए कमर कस लो। तुम ही तो देश का मुख्य आधार हो, वास्तविक शक्ति हो। सोए हुए शेरों! उठो और बगावत खड़ी कर दो।

जाति-संस्था के उन्मूलन का आह्वान

■ मधु लिमए

जीवन के कटु अनुभवों से अंबेडकर ने सीखा था कि दलितों की स्थिति में सुधार समतामूलक समाज की स्थापना के व्यापक आंदोलन का एक हिस्सा है। स्वतंत्र स्त्री-पुरुषों के समाज की स्थापना जाति संस्था से जूझे बिना नहीं होगी। जाति संस्था न केवल समता पर आधारित समाज के विरुद्ध है अपितु सब मनुष्यों को सम्मान देने की कल्पना के भी विरुद्ध है। यद्यपि अंबेडकर को अर्थशास्त्र और वित्तीय प्रश्नों का अध्ययन करने के लिए विदेश भेजा गया था। उनकी सबसे अधिक रुचि जाति समस्या में थी। जाति संस्था के उद्‌गम और उसके स्वरूप की खोज करना तथा उसे नष्ट करना उनके जीवन का प्रमुख लक्ष्य बन गया था।

अमरीका में रहते हुए उन्होंने एक बार डॉ.ए.ए. गोल्डन विजर द्वारा आयोजित नृतत्व विज्ञान विषयक गोष्ठी में एक निबंध पढ़ा। निबंध का विषय था भारत में जाति : उद्‌गम, विकास और स्वरूप। यह 9 मई, 1916 की बात है। अंबेडकर उस समय केवल पच्चीस वर्ष के थे। इस निबंध में उन्होंने अपनी वय की तुलना में आश्चर्यजनक परिपक्वता तथा आकलन-शक्ति दिखाई। उनसे पूर्व कई विद्वानों ने इस विषय को उठाया था किन्तु इन विद्वानों के विश्लेषण अथवा अनुमानों से अंबेडकर को संतोष नहीं हुआ और न ही वे समाज-शास्त्र के क्षेत्र में प्रसिद्ध बड़े-बड़े नामों से घबराए। उनके निबंध में स्पष्टता और साहस के गुण थे। उनके लेखन में प्रथम निबंध से लेकर अन्तिम तक ये दोनों गुण निरंतर बने रहे।

क्या था इस तरुण विद्यार्थी का सिद्धान्त? प्रथम उन्होंने जाति की परिभाषा की समस्या की ओर ध्यान दिया। वे ऐसी परिभाषा चाहते थे जिसमें नअति व्याप्ति का दोष होता, न अव्याप्ति का। उन्होंने कहा, मानव समाज मानव संबंधों का जाल है और उन्होंने समाज की आत्यंतिक व्यक्तिवादी कल्पना को अस्वीकार किया। आत्यंतिक व्यक्तिवाद को उन्होंने बहुत बड़ा ढोंग कहाः

> *''यह कहना कि व्यक्ति ही समाज को बनाते हैं बहुत सतही कथन है। वर्गों के मिलने से समाज बनता है। वर्ग संघर्ष के सिद्धांत में कुछ अतिश्योक्ति हो सकती है लेकिन यह सच है कि समाज के भीतर वर्ग होते हैं। उन वर्गों के आधार अलग-अलग हो सकते हैं। आधार आर्थिक, बौद्धिक या सामाजिक हो सकते हैं किन्तु व्यक्ति हमेशा समूह का सदस्य होता है। यह सार्वकालिक सत्य है और प्राचीन हिन्दू समाज इस नियम का अपवाद नहीं हो सकता और हम जानते हैं कि वह अपवाद नहीं था। अगर हम इस बात को ध्यान में रखेंगे तो जाति के उद्‌गम के विषय में हमारे अध्ययन में काफी मदद मिलेगी। तब हमें इतना ही निश्चित करना होगा कि किस वर्ग ने सबसे पहले अपने को जाति के रूप में स्थापित किया क्योंकि वर्ग और जाति निकटवर्ती संकल्पनाएं हैं और कालांतर में ही दोनों अलग-अलग होती हैं। बंद या जमा हुआ वर्ग ही जाति है।''*

अंबेडकर का कहना था कि जब समूह के बाहर विवाहों के स्थान पर समूह के अंदर असगोत्र विवाह की प्रणाली चलने लगती है तो वर्ग जाति में परिणत होता है। उनके विचार से वैवाहिक इकाई में स्त्री-पुरुषों की संख्यात्मक असमानता को दूर करने का प्रयास ही जाति का मूल है। यह प्रश्न बहुत कठिन और उलझा हुआ था। हिंदू समाज ने इसके लिए चार रास्ते अपनाएः

1. सती प्रथा अर्थात् मृत पति की चिता पर जीवित पत्नी को जलाना।
2. वैधव्य के कड़े नियम जिनके अनुसार विधवा स्त्री को पुनर्विवाह की अनुमति नहीं थी।
3. बाल-विवाह।
4. संन्यास।

अंबेडकर इस बात को नहीं मानते थे कि विधि व्यवस्था के प्रणेता मनु ने जाति प्रणाली का निर्माण किया। उनका कहना था कि कोई एक व्यक्ति चाहे वह कितना ही शक्तिशाली होता, जाति व्यवस्था का निर्माण नहीं कर सकता था। यह बात कल्पना से परे है कि मनु ने जाति का कानून बनाया। वह यह कर ही नहीं सकता था। जाति मनु से पहले अस्तित्व में थी। वे सनातनी हिंदुओं की इस मान्यता का खंडन करते हैं कि जाति श्रेणियों का निर्माण शास्त्रों अथवा स्मृतियों ने सोच-विचार कर किया। उन्होंने इस मान्यता को भी अस्वीकार किया कि ब्राह्मणों ने जाति संस्था का निर्माण किया। ब्राह्मणों ने अनेक गुनाह किये हैं, इस संस्था को बनाए रखने में उनका हाथ रहा है। लेकिन जाति संस्था का निर्माण करके उसे गैर-ब्राह्मणों पर लादना उनके बस की बात नहीं थी। अंबेडकर का कहना था कि मनु ने जाति के विद्यमान नियमों को सिर्फ संहिताबद्ध

किया और उन्हें धार्मिक एवं दार्शनिक आधार प्रदान किया।

इसके बाद अंबेडकर ने पश्चिमी विद्वानों के सिद्धान्तों का विवेचन किया। कुछ विद्वान विभिन्न व्यवसायों को जाति का आधार मानते हैं। कुछ लोग प्राचीन कबीलाई संगठनों में मिश्र प्रजनन और स्थानान्तरण से जाति व्यवस्था का उद्भव मानते हैं। अंबेडकर इन स्पष्टीकरणों से संतुष्ट नहीं थे।

अंबेडकर का कहना था कि भारतीय समाज अन्य समाजों की तरह वर्गों में विभाजित था। उनमें सामाजिक अभिसरण होता था। फिर इतिहास की किसी अवस्था में पुरोहित वर्गों ने अपने को समाज से अलग कर लिया और एक बंद नीति अपनाकर अपनी अलग जाति बना ली। वैश्य और शूद्र इन दो वर्गों ने तब एक स्थिर रूप नहीं लिया था। इन दो वर्गों से ही आज की विविध जातियों का जन्म हुआ। अंबेडकर लिखते हैं कि जब तक समाज का मूल घटक वर्ग था तब तक एक वर्ग से दूसरे वर्ग में आवागमन का मार्ग खुला था। कालांतर में यह व्यवस्था नष्ट हुई और इन उपविभागों में से बंद इकाइयां बनीं जिन्हें जाति का नाम दिया गया। क्या इन इकाइयों को अपने दरवाजे बंद करने और अपने वर्ग के भीतर विवाह करने के लिए बाध्य किया गया या इन्होंने खुद अपने दरवाज़े बंद कर लिए? इस प्रश्न का उत्तर अंबेडकर ने दोहरा दिया है। वे कहते हैं, कुछ ने अपने दरवाजे खुद बंद कर लिए और बाकियों के दरवाजे बंद कर दिये गये।

अंबेडकर की प्रस्थापना है कि पुरोहित वर्गो अर्थात् ब्राह्मणों ने सबसे पहले अपने को बंद सामाजिक इकाई बनाया और अपने वर्ग में शादियां करने लगे। उन्होंने यह प्रक्रिया शुरू की। इतिहासकार आर्नल्ड टायन्बी ने जिसे 'अनुकरण की प्रक्रिया' कहा और अंबेडकर ने जिसे 'अनुकरण का संक्रमण' कहा, उसके अनुसार अन्य वर्गों में विभेदीकरण और स्तरीकरण की अनिष्टकारी प्रक्रिया चली जिसमें उन्होंने अपने को बंद कर लिया तथा दूसरों के लिए अपने दरवाजे बंद कर लिये। अंबेडकर का कहना था कि यह प्रस्थापना स्वतः स्पष्ट है और इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। तथापित उन्होंने वाल्टर बेजाट जैसे विद्वानों का हवाला देते हुए कहा कि इस प्रक्रिया के लिए सभी आवश्यक स्थितियां भारत में मौजूद थीं। उन्होंने कहाः

> *''इस अधिकारी विद्वान के अनुसार अनुकरण की प्रक्रिया की शर्तें हैं: (क) जिस समूह का अनुकरण किया जाता है उसकी प्रतिष्ठा होनी चाहिए (ख) समूह के सदस्यों में नित्य प्रति के और अनेक प्रकार के संबंध होने चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं कि ये स्थितियां भारत में थीं। ब्राह्मणों को देवता के समान अथवा लगभग देवता माना जाता था। वह एक चौखट तैयार करता था और उसी के अनुरूप दूसरों को गढ़ता था। उनकी प्रतिष्ठा के बारे में कोई संदेह ही नहीं था। वे आनंद और कल्याण के स्रोत माने जाते थे। शास्त्रों ने उनकी आत्यंतिक प्रशंसा करके उनका लगभग देवस्वीकरण किया था और पुरोहित भक्त समाज ने उन्हें अत्यन्त आदर का स्थान दिया था। ऐसे वर्ग के व्यक्तित्व की छाप का उस बहुसंख्यक समूह पर पड़ना अवश्यम्भावी था जो उनके समक्ष हाथ जोड़कर खड़े रहते थे। एक कहानी के अनुसार इस वर्ग को सृष्टि की अंतिम कृति माना जाता है। यदि ऐसा है तो वह मात्र अनुकरणीय ही नहीं है अपितु अनुसरण के योग्य भी है। यदि वह अपने वर्ग के भीतर विवाह करता है तो क्या दूसरों को भी उनका अनुसरण नहीं करना चाहिए।''*

अंबेडकर ने चुटकी लेते हुए कहा कि बाल विवाह, कठोर वैधव्य और सती प्रथा के पालन के अनुपात में हिंदू समाज में जाति का स्तर निर्धारित होता है। पेशवा काल में महाराष्ट्र के पाठारे प्रभु समाज ने विधवा विवाह पर पाबंदी लगाकर अपनी जाति का स्तर ऊंचा करने का प्रयत्न किया तब पेशवाओं ने विधवा पुनर्विवाह की रस्म कायम रखने के लिए हस्तक्षेप किया था। पेशवाओं ने यह आदेश समाज सुधार की दृष्टि से नहीं निकाला था बल्कि इसलिए निकाला था कि पाठारे प्रभुओं को ऊंचा दर्जा न मिले। कायस्थों द्वारा यज्ञोपवीत धारण करने और इस तरह क्षत्रियों के बराबर दर्जा प्राप्त करने की कोशिशों को भी पेशवाओं ने नाकाम बनाने का प्रयास किया।

अंबेडकर ने कहा कि जाति प्रणाली में ऐसी कड़ी व्यवस्था की गई थी कि जाति के भीतर जाने की बंदिश के साथ जाति से बाहर जाने की भी बंदिश थी। एक व्यक्ति की जाति का कुछ मतलब ही नहीं होता था। जाति शब्द हमेशा बहुवचनवाची होता था। जाति नियमों को तोड़ने का साहस करने वाले गुनहगार के लिए कोई दया जाति व्यवस्था में नहीं है। जिन्हें जाति से बाहर फेंक दिया जाता था, उनके लिए अपनी अलग जाति बनाने के अलावा कोई चारा नहीं था। जाति का तर्कशास्त्र इतना कठोर था कि बहिष्कृत होने पर नये-नये समूह लगातार बनते गये। इस क्रूर नियम ने सामाजिक समूहों को असंख्य जातियों में बदल दिया।

जाति के उद्गम के संबंध में वंश या नस्ल का सिद्धांत अंबेडकर को मान्य नहीं था। उनकी मान्यता थी कि भारतीय समाज वंश या नस्ल की दृष्टि से शुद्ध नहीं था। यह एक मिश्र समाज था- कई नस्लों का मिला-जुला समाज। उनका विचार था कि चूँकि यूरोप के विद्वान रंग के पूर्वाग्रहों से युक्त थे अतः उन्होंने रंग को नस्ल के साथ जोड़कर जाति को स्पष्ट करने का प्रयास किया। यह गलत था। वे डॉ. केतकर की इस मान्यता से सहमत थे कि कोई परिवार या कबीला आर्य नस्ल का है या

द्रविड़ नस्ल का, इस सवाल ने विदेशियों के आने से पहले भारतीयों को कभी परेशान नहीं किया। त्वचा के रंग का यदि कभी महत्व भी रहा होगा तो भी एक लंबे अर्से से वह महत्व खत्म हो चुका है।

समाचार पत्रों के वैवाहिक विज्ञापनों में जो रंग की चेतना या पूर्वाग्रह दिखाई देता है वह पश्चिमी विरासत है। प्राचीन हिंदू सभ्यता की सर्वोत्तम साहित्यिक अभिव्यक्ति कालिदास में हुई है और उसने तन्वीश्यामा को स्त्री का एक आदर्श कहा है। कुछ लोगों की राय में इसका आशय श्यामवर्ण की स्त्री से है। राम और कृष्ण जैसे हिंदुओं के पूज्य पौराणिक नायकों को श्यामवर्णीय ही कहा गया है। इससे रंग वाला सिद्धांत अंबेडकर का अग्राह्य था। अंबेडकर ने स्वीकार किया कि भारत में विभिन्न वंशों का पूर्ण समेकन नहीं हुआ तथापि सम्मिश्रण काफी आगे बढ़ चुका था और इससे विस्मयकारी सांस्कृतिक एकरूपता यहां पैदा हुई।

उन्होंने अपने विश्लेषण का निष्कर्ष वंश और नस्ल के कारकों की उपेक्षा करके निकाला। इसमें चार मुख्य बातें हैं:

> *''वंश की दृष्टि से सभी लोग संकर हैं। सांस्कृतिक एकता उनकी एकता का कारण है। इस बात को मानकर चलते हुए मैं यह कहने का साहस कर सकता हूं कि संकर रचना के बावजूद सांस्कृतिक एकता में कोई भी देश भारत का मुकाबला नहीं कर सकता है। इसमें न केवल भौगोलिक एकता है अपितु उससे ज़्यादा गहरी और मूलभूत एकता है सांस्कृतिक एकता जो एक छोर से दूसरे छोर तक सारे देश में व्याप्त है। लेकिन इस संस्कृतिजन्य एकरूपता के कारण ही जाति की गुत्थी को सुलझाना अत्यंत कठिन हो जाता है। यदि हिन्दू समाज परस्पर विलग इकाइयों का संघ होता तो यह समस्या आसान होती। किंतु जाति, समरूप सांस्कृतिक इकाई के विभक्तिकरण का परिणाम है और अनुकरण तथा बहिष्कार की प्रक्रियाओं से समूह ने जातियों का रूप ले लिया।''*

अंबेडकर की 1916 में यही केंद्रीय प्रस्थापना थी। बाद में उन्होंने महसूस किया कि अनुकरण का सिद्धांत जाति जैसे जटिल प्रश्न को स्पष्ट करने में पर्याप्त नहीं है। उन्होंने बल, छल तथा दार्शनिक एवं धार्मिक पाबंदियों को भी अपने विश्लेषण में समाविष्ट किया।

तरुण अवस्था में अंबेडकर के द्वारा किये गये बौद्धिक श्रम का विस्तार से जिक्र मैंने इसलिए नहीं किया है कि यह उनका प्रथम निबंध था बल्कि इसलिए कि गुणवत्ता की दृष्टि से यह उच्च कोटि का है। यदि उन्होंने इस निबंध के अतिरिक्त और कुछ न लिखा होता तो भी उनकी गणना अच्छे विचारकों में होती। अंबेडकर को इस बात का दुःख था कि एक हजार साल से दलित वर्गों में कोई बुद्धिजीवी पैदा नहीं हुआ। यह एक प्रकार से दलितों पर लादी गई अवहेलना का प्रतीक था। लेकिन अब भारतीय समाज के सबसे अधिक सताये हुए वर्ग से एक ऐसा व्यक्ति निकला था जिसे एक दिन उसके विरोधी भी दिग्गज बुद्धिजीवी के रूप में स्वीकार करेंगे।

जाति के सिद्धांत और इसके उन्मूलन के संघर्ष की दूसरी अवस्था 1927-28 में आती है। बड़ौदा रियासत की नौकरी छोड़ने के बाद डॉ. अंबेडकर ने दलितों के उत्थान के लिए बहिष्कृत हितकारिणी सभा का संगठन किया और उसकी विभिन्न गतिविधियां चलाई जैसे पहले कहा जा चुका है। डॉ. अंबेडकर मात्र सिद्धांतवादी नहीं थे बल्कि एक कर्मनिष्ठ और जुझारू व्यक्ति भी थे। जब उन्होंने पालिका के तालाब से पानी लेने के सवाल पर महाड़ (कोलावा) में सत्याग्रह करने का फैसला किया तो उन्होंने एक विद्रोही सैद्धांतिक घोषणा पत्र जारी किया। उनहोंने कहा कि उनका लक्ष्य न केवल अस्पृश्यता को हटाना है बल्कि जाति व्यवस्था के खिलाफ युद्ध छेड़ना भी है।

उन्होंने हिन्दुओं के इस दावे का खंडन किया कि विश्व के सब धर्मों में हिंदू धर्म सबसे उदार और सहिष्णु है। जाति उन्मूलन का जोरदार समर्थन करते हुए उन्होंने कहा :

> *''हिंदू अपनी मानवतावादी भावनाओं के लिए प्रसिद्ध है और प्राणी जीवन के प्रति उनकी आस्था तो अद्भुत है। कुछ लोग तो विषैले सांपों को भी नहीं मारते। हिंदुओं में साधुओं और हट्टे-कट्टे भिखारियों की बड़ी फौज है और वे समझते हैं कि इन्हें भोजन-वस्त्र देकर तथा इनको मौज-मस्ती के लिए दान देकर वे पुण्य कमाते हैं। हिंदू दर्शन सर्वव्यापी आत्मा का सिद्धांत सिखाता है और गीता उपदेश देती है कि ब्राह्मण तथा चांडाल में भेद न करो।*
>
> *प्रश्न उठता है कि जिन हिंदुओं में उदारता और मानवतावाद की इतनी अच्छी परंपरा है और जिनका इतना अच्छा दर्शन है वे मनुष्यों के प्रति इतना अनुचित तथा निर्दयतापूर्ण व्यवहार क्यों करते हैं। हिंदू समाज जाति व्यवस्था की इस्पाती चौखट में बंधा हुआ है जिसमें एक जाति सामाजिक प्रतिष्ठा में दूसरी से नीचे है और प्रत्येक जाति में अपने स्थान के अनुपात में विशेषाधिकार, निषेध और असमर्थताएं हैं। इस प्रणाली ने निहित स्वार्थों को जन्म दिया है जो प्रणाली - अन्य असमानताओं को बनाये रखने पर निर्भर है।''*

गूंजती हुई आवाज में अंबेडकर ने घोषणा की कि जाति व्यवस्था को बनाये रखते हुए केवल अस्पृश्यता को खत्म करना काफी नहीं होगा। असफलता गुनाह नहीं था बल्कि ध्येय को

छोटा करना गुनाह था। उन्होंने कहा हिन्दुओं की विभिन्न जातियों में परस्पर भोजन को ही नहीं परस्पर विवाह को भी आम बनाया जाना चाहिए। केवल अस्पृश्यता के कलंक को हटाने का मतलब होगा अस्पृश्यों को अन्य शूद्रों की श्रेणी में रखना। वे यह नहीं चाहते थे, क्योंकि स्मृतियों और धर्मशास्त्रों में अन्य शूद्रों को भी नीच कहा गया है। वे सभी प्रकार का जाति-भेद समाप्त करना चाहते थे। वर्णाश्रम व्यवस्था खत्म की जानी चाहिए और अधिकार, उत्तरदायित्व तथा प्रतिष्ठा आकस्मिक जन्म के बजाय योग्यता पर आधारित होनी चाहिए।

महाड़ में 29 दिसंबर, 1927 को सत्याग्रहियों की एक सभा में डॉ. अंबेडकर और उनके अनुयायियों ने न केवल इस घोषणा पत्र के सिद्धांतों को प्रस्तुत किया बल्कि उनके एक ब्राह्मण अनुयायी ने 'मनुस्मृति' के अन्यायपूर्ण अंशों को पढ़कर सुनाया। इसके बाद भारत में एक वर्ण समाज (समतामूलक समाज) की स्थापना का प्रस्ताव पास किया गया और 'मनुस्मृति' को जलाया गया। यह विरोध का प्रतीक था और भारत के इतिहास में यह स्मरणीय दिन था। जाति व्यवस्था पर चारों तरफ से हल्ला बोला गया था। सारे भारत के सनातनी हिन्दुओं में रोष की लहर दौड़ गई। किंतु विद्रोही डॉ. अंबेडकर अडिग रहे।

दिसंबर, 1935 में डॉ. अंबेडकर को लाहौर के जात-पात तोड़कर मंडल द्वारा सम्मेलन की अध्यक्षता के लिए बुलाया गया। अंबेडकर इस निमंत्रण को स्वीकार करने में हिचकिचा रहे थे। उन्होंने आयोजकों को बता दिया कि वे यह प्रस्थापना रखना चाहते हैं कि जाति व्यवस्था के आधारभूत धार्मिक सिद्धांतों को तोड़े बिना जाति को नहीं तोड़ा जा सकता। लेकिन आयोजकों का इसरार था कि वे आएं। उन्होंने अपने भाषण का प्रारूप आयोजकों को भेजा तो वे घबरा गये। उन्होंने डॉ. अंबेडकर से निवेदन किया कि वे अपने भाषण से एक विशेष अंश को निकाल दें। अंबेडकर इसके लिए सहमत नहीं हुए। सम्मेलन का विचार ही छोड़ दिया गया। बाद में यह भाषण स्मारिका के रूप में छपा और 1944 तक उसके तीन संस्करण हो गये। उसके बाद यह कई बार पुनर्मुद्रित हो चुका है। मेरे विचार से यह भाषण जाति व्यवस्था पर डॉ. अंबेडकर की सबसे प्रभावशाली कृति है। यह निर्मम तर्क और युक्ति पर आधारित है तथापि इसमें इतनी आग है कि इसकी तुलना कार्ल मार्क्स और एंगेल्स द्वारा लिखित कम्युनिस्ट मैनिफैस्टो से की जा सकती है। हम भारतीयों के लिए तो यह कम्युनिस्ट मैनिफैस्टो से भी अधिक प्रासंगिक है।

डॉ. अंबेडकर ने सामाजिक सुधार बनाम राजनैतिक चेतना के पुराने सवाल को उठाया जिसको लेकर भारतीय राष्ट्र कांग्रेस में दो धड़े रहे थे। उन्होंने तिलक का उल्लेख किया जिन्होंने कांग्रेस के पंडाल में सोशल कांफ्रेंस का सम्मेलन करने का विरोध किया था और उनके कुछ अनुयायियों ने पंडाल को जला डालने की धमकी दी थी।

अंबेडकर के अनुसार समाज-सुधार वाली पार्टी की पराजय एक दुर्भाग्यपूर्ण बात थी। लेकिन इससे यह प्रश्न अंतिम रूप से तय नहीं हुआ कि राजनैतिक सुधारों के लिए सामाजिक सुधारों का क्या महत्व है। राजनैतिक सुधारवादी पार्टी की जीत सत्य की जीत नहीं थी। यह जीत निर्णायक भी नहीं थी। इस भाषण में डॉ. अंबेडकर ने जोरदार ढंग से यह बात कही कि समाज व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन करने के लिए सामाजिक सुधार मात्र नहीं, सामाजिक क्रांति की आवश्यकता है।

उन्होंने सवाल किया कि क्या पिछली दो शताब्दियों में अत्यंत दलित वर्गों के प्रति हिन्दू समाज के रवैये में कोई परिवर्तन हुआ है? उनहोंने पेशवाओं के शासन में हरिजनों के प्रति किये गये व्यवहार और 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के 4 जनवरी, 1928 के अंक में प्रकाशित लेख के अनुसार इंदौर रियासत में उनके साथ किये गये व्यवहार की तुलना की। अंबेडकर ने कहा :

> *"पेशवा शासनकाल में अस्पृश्यों को उस सड़क पर नहीं चलने दिया जाता था जिस पर सवर्ण हिंदू आते-जाते थे ताकि उसके साये से सवर्ण हिंदू भ्रष्ट न हो जाएं। अस्पृश्यों को अपनी पहचान के लिए काला डोरा कलाई या गले में बांधना पड़ता था ताकि सवर्ण हिंदू उन्हें गलती से छूकर भ्रष्ट न हों। पेशवाओं की राजधानी पूना में अस्पृश्यों को कमर में झाड़ू बांधकर चलना पड़ता था ताकि जिस ज़मीन पर वे चलें वह झाड़ू से साफ होती रहे और सवर्ण हिंदू उस पर चलकर भ्रष्ट न हों। पूना में अस्पृश्यों को गले में मिट्टी का बरतन थूकने के लिए बांधकर निकलना पड़ता था ताकि उनके थूक से अपवित्र ज़मीन पर पैर रखकर सवर्ण हिंदू अपवित्र न हों।"*

अंबेडकर ने पूछा, इंदौर में क्या हो रहा है? वहां ब्राह्मण, राजपूत और पटेल जातियों ने बालाई नामक एक हरिजन जाति के कुछ लोगों को कुछ कामों की मनाही की और कुछ काम जबरदस्ती उन पर लादने की कोशिश की। उनसे कहा गया कि वे सोने के आभूषण, तिल्लेदार पगड़ी, रंगीन या फैंसी बार्डर वाली धोती न पहनें क्योंकि इसका मतलब होगा सवर्ण जातियों का अनादर। बालाइयों को सवर्ण हिंदू परिवारों में हुई मृत्यु की सूचना दूर गांवों के रिश्तेदारों को भी पहुंचानी होगी और उन्हें सवर्ण हिन्दुओं की शादियों में बिना किसी मजदूरी के गाना-बजाना होगा। बालाई जाति की स्त्रियों को गहने नहीं पहनने होंगे और उन्हें सवर्ण हिंदुओं की जच्चा महिलाओं की सेवा करनी होगी। अगर वे ये काम नहीं करेंगी तो उन्हें गांव छोड़ना पड़ेगा। अंबेडकर ने अनुसूचित जातियों पर किये गये अत्याचारों की हाल की कई घटनाओं का भी जिक्र किया।

अंबेडकर ने प्रश्न किया कि क्या अपने भाइयों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करने वाले समाज को सभ्य समाज कहा जा सकता है और उनके हाथ राजसत्ता दी जानी चाहिए? कांग्रेसी यह कहते नहीं अघाते हैं कि एक देश दूसरे देश पर शासन करने के योग्य नहीं है। उनसे यह पूछा जा सकता है, क्या एक वर्ग दूसरे वर्गों पर शासन करने के योग्य है?

अंबेडकर का कहना था कि बाल-विवाह निषेध और विधवा विवाह की अनुमति जैसे छोटे-मोटे सुधार करना काफी नहीं है। बुनियादी सुधार आवश्यक हैं जो जाति व्यवस्था को खत्म करें। उनहोंने कम्युनल अवार्ड (सांप्रदायिक आदेश) की तरफ लोगों का ध्यान आकृष्ट किया और कहा कि यह समाज सुधारों की उपेक्षा और उनके प्रति दिखाई उदासीनता का फल है।

वर्ष 1934 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में एक नई पार्टी ने जन्म लिया था जो वर्ग-शासन और आर्थिक शोषण के उन्मूलन को समर्पित थी। यह थी कांग्रेस समाजवादी पार्टी। अंबेडकर ने अपने भाषण का अधिकांश इन समाजवादियों को संबोधित किया। उनहोंने समाजवादियों से पूछा कि वे आर्थिक सुधार लाना चाहते हैं तो क्या वे समाज-सुधारों की उपेक्षा कर सकते हैं?

उन्होंने कहा कि समाजवादी भारतीय समाज की वास्तविकताओं पर इतिहास की आर्थिक व्याख्या को लागू करना चाहते हैं। उन्होंने सिद्धांत रखा है कि आदमी आर्थिक प्राणी है, उसके कार्यकलाप और उसकी आकांक्षाएं आर्थिक तथ्यों से चालित होती हैं और सम्पत्ति एकमात्र सत्ता का स्रोत है। अतः समाजवादी आर्थिक परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन से ऊपर स्थान देना चाहते हैं। वास्तव में यह कहना भी गलत नहीं होगा कि उनके विचार से सामाजिक परिवर्तन आर्थिक परिवर्तन का परिणाम है और आर्थिक परिवर्तन के बाद सामाजिक परिवर्तन अपने-आप हो जाएगा।

डॉ. अंबेडकर ने समाजवादियों की इस इतिहास दृष्टि को चुनौती दी। स्मरणीय है कि साम्यवादी और मार्क्सवादी तो इसके बारे में और भी आग्रही थे। उन्होंने इस धारणा का खंडन किया कि मानव आर्थिक प्रेरणा से ही कार्य में प्रवृत्त होता है और आर्थिक शक्ति ही सत्ता का एकमात्र स्रोत है। राजनैतिक सत्ता आर्थिक सत्ता से प्रभावित होती है। उनका कहना था कि व्यक्ति का सामाजिक वर्ग भी सत्ता का प्रभावशाली स्रोत होता है। जन-साधारण में महात्मा गांधी के इतने व्यापक प्रभाव को और कैसे स्पष्ट किया जा सकता है? भारत में करोड़पति निर्धन साधुओं और फकीरों की आज्ञा का पालन क्यों करते हैं? क्यों यहां करोड़ों निर्धन अपने छोटे-मोटे गहने बेचकर बनारस और मक्का जाते हैं? अंबेडकर ने कहा, भारत का इतिहास दिखाता है कि धर्म भी सत्ता का स्रोत है। धार्मिक व्यक्तियों, पंडे-पुरोहितों की सत्ता मैजिस्ट्रेटों की सत्ता से कहीं ज़्यादा हैं।

अंबेडकर ने कहा कि समाजवादी सिद्धांत गलत धारणाओं पर टिके हैं :

> *''समाजवादी यह मानकर चलते हैं कि चूंकि यूरोपीय समाज की वर्तमान अवस्था में सम्पत्ति, शक्ति का प्रमुख स्रोत है, भारत में भी यह बात सही होगी या यूरोप में अतीत में भी ऐसा रहा होगा। धर्म, सामाजिक प्रतिष्ठा और सम्पत्ति तीनों ही शक्ति और सत्ता का स्रोत रहे हैं जिनका इस्तेमाल आदमी ने दूसरों की स्वतंत्रता को छीनने में किया है। किसी समय एक तत्व प्रमुख रहा, किसी समय दूसरा तत्व। केवल इतना ही अंतर है। यदि स्वतंत्रता आदर्श है, यदि स्वतंत्रता का मतलब एक व्यक्ति पर किसी अन्य व्यक्ति के अधिकार को समाप्त करना है तो यह नहीं कहा जा सकता कि केवल आर्थिक सुधार ही लाए जाने चाहिए। यदि किसी समय में या किसी समाज में शक्ति और अधिकार के स्रोत सामाजिक या धार्मिक हों, तो सामाजिक और धार्मिक सुधारों की अनिवार्यता स्वीकार की जानी चाहिए।''*

मूलभूत आर्थिक परिवर्तन, सम्पत्ति संबंधों में परिवर्तन लाने के लिए समाजवादियों को सत्ता पर कब्जा करना चाहिए। लेकिन आम जनता का समर्थन प्राप्त किये बिना वे सत्ता पर कब्जा कैसे कर सकते हैं। अंबेडकर ने कहा कि सर्वहारा वर्ग-मोटे तौर पर दलित वर्ग-इसके लिए तब काम करेगा जब उसे विश्वास होगा कि समाजवादी समता, बंधुत्व और न्याय की भावना से प्रेरित है।

डॉ. अंबेडकर ने कहा, लोग सम्पत्ति के समान बंटवारे की क्रांति के लिए तब तक काम नहीं करेंगे जब तक उन्हें यह विश्वास न हो कि क्रांति के बाद उनके साथ समानता का व्यवहार किया जाएगा और जाति की बिना पर उनके साथ भेदभाव नहीं किया जाएगा।

> *''क्रांति का नेतृत्व करने वाले समाजवादियों का यह आश्वासन कि वे जात-पात नहीं मानते, काफी नहीं है। यह आश्वासन गहरी आस्था से आना चाहिए। व्यक्तिगत समानता और बंधुत्व का दृष्टिकोण सभी देशभक्तों को एक-दूसरे के प्रति अपनाना चाहिए।''*

डॉ. अंबेडकर ने समाजवादियों को आगाह किया कि उन्हें समाज में व्याप्त ऊंच-नीच, पवित्र-अपवित्र के पूर्वाग्रहों से लड़ना होगा। उन्हें इस बात को स्वीकार करना होगा कि समाज-सुधारों की समस्या बुनियादी समस्या है। इससे बचा नहीं जा सकता। यदि उन्होंने पहले इसे स्वीकर नहीं किया तो क्रांति के बाद इसे स्वीकार करना पड़ेगा। तुम किसी भी दिशा में जाओ, जातिवाद के राक्षस से तूम्हें दो-दो हाथ करने ही पड़ेंगे। जब तक इस

राक्षस को नहीं मारोगे तब तक तुम कोई भी आर्थिक या राजनैतिक परिवर्तन नहीं ला सकते।''

जाति तत्व का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए डॉ. अंबेडकर ने कहा कि यह न तो श्रम विभाजन पर आधारित है और न प्राकृतिक क्षमताओं पर। जाति व्यक्तियों के लिए पहले से ही काम निर्धारित करती है, उनकी प्रशिक्षित और मौलिक क्षमताओं के आधार पर नहीं, बल्कि जन्म के आधार पर और माता-पिता के सामाजिक दर्जे के आधार पर।

जाति व्यवस्था जिन खतरनाक सिद्धांतों पर आधारित है, उससे लोग मानसिक कुंठा का अनुभव करते हैं। जाति व्यवस्था के कारण बदलती परिस्थिति के अनुसार व्यवसाय और कामधंधे में परिवर्तन करना असंभव होता है और इससे बेकारी की समस्या तीव्र होती है। साथ ही यह विश्वास उत्पन्न होता है कि यह बस नियति द्वारा तय है और इसमें परिवर्तन असंभव हैं

उन्होंने तर्कपूर्ण ढंग से प्रतिपादित किया कि चातुर्वर्ण्य और जाति प्रथा ने भारत की बहुत बड़ी जनसंख्या को स्थायी रूप से अपाहिज बना दिया है। ''दुनिया के दूसरे देशों में क्रांतियां हुई हैं। मेरे मन को यह सवाल बराबर परेशान करता रहा है कि हिंदुस्तान में इस तरह की क्रांतियां क्यों नहीं हुई। इसका मैं एक ही जवाब दे सकता हूं कि चातुर्वर्ण्य के कारण हिंदू समाज की छोटी जातियां कोई भी सीधी कार्रवाई करने के लिए बिल्कुल अशक्त हो गई हैं। वे शस्त्र नहीं उठा सकतीं और शस्त्र उठाये बिना कोई विद्रोह नहीं कर सकतीं'' उन्हें शिक्षा से वंचित रखा गया, उच्च संस्कृति से वंचित रखा गया। उन्हें ज्ञान के नये प्रकाश में हिस्सा नहीं दिया गया और गुलाम बनाकर रखा गया।

जाति प्रथा के घातक प्रभाव के कारण भारत को अंधकार, पराजय और अधोगति का शिकार बनना पड़ा। स्वतंत्रता, महानता और गौरव का केवल एक समय आया, मौर्य साम्राज्य के समय जब चातुर्वर्ण्य के बंधन शिथिल हुए।

हिंदू समाज की जीवन क्षमता के बारे में बहुत कुछ कहा गया है। लेकिन अंबेडकर के लिए मात्र ज़िंदा रहने का कोई महत्व नहीं है। उनके लिए जिंदा रहने का ढंग ज़्यादा महत्वपूर्ण है। अंबेडकर का विचार था कि हिंदुओं के अस्तित्व की कहानी लगातार पराजय की कहानी है। पीछे हटना, आत्मसमर्पण करना और गुलामों का जीवन जीना भी जिंदा रहने का एक तरीका है। उन्होंने कहा कि इस तरह के जीने में कोई सुख नहीं है।

एक और मौके पर डॉ. अंबेडकर ने फिर इस सवाल को उठाया और उसका स्वयं उत्तर दिया। हमारे देश को बार-बार अपनी आज़ादी क्यों खोनी पड़ी...? क्यों हम इतनी बार विदेशियों के अधीन हुए? कारण यह था कि हमारा सारा देश हमले के खिलाफ खड़ा नहीं हो सका। हमेशा समाज के एक छोटे से वर्ग ने उनका मुकाबला किया और जब यह पराजित हो गया तो सारा देश विजेता के कदमों पर झुक गया। यह मुख्यतया हिंदुओं की जाति प्रथा के कारण हुआ। युद्ध में यूरोप का उदाहरण देते हुए अंबेडकर ने कहा कि वहां युद्ध में जो सैनिक मरते थे उनकी जगह पर तुरन्त नये सैनिक आ जाते थे। वहां पूरा देश लड़ता था, समाज का महज एक हिस्सा नहीं। भारत में जब क्षत्रिय हार जाते थे तो उनकी जगह नये सैनिक नहीं आते थे, सार्वजनिक सैनिक भरती नहीं होती थी क्योंकि चातुर्वर्ण्य की घृणित व्यवस्था थी कि युद्ध में केवल क्षत्रिय ही लड़ेंगे। इसी कारण देश बार-बार गुलाम हुआ। अगर हमें शस्त्र-धारण के अधिकार से वंचित न किया गया होता, तो यह देश कभी अपनी आज़ादी न खोता और कोई भी हमलावर इस पर विजय हासिल करने में कामयाब न होता।

डॉ. अंबेडकर का विचार था कि जाति प्रथा से लड़ने के लिए चारों तरफ से प्रहार करना होगा। जाति ईंट की दीवार जैसी कोई भौतिक वस्तु नहीं हैं। यह एक विचार है, एक मनःस्थिति है। इस मनःस्थिति की नींव शास्त्रों की पवित्रता में है। वास्तविक उपाय यह है कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष को शास्त्रों के बंधन से मुक्त किया जाए, उनकी पवित्रता को नष्ट किया जाए, लोगों के दिमाग को साफ किया जाए। तभी वे जात-पात का भेदभाव बंद करेंगे। अंबेडकर को विश्वास था कि इसका सही उपाय है अंतर्जातीय विवाह। जब जाति का धार्मिक आधार समाप्त हो जाएगा तो इसके लिए रास्ता खुल जाएगा। रक्त के मिश्रण से ही अपनेपन की भावना पैदा होगी और जब तक यह अपनत्व की, बंधुत्व की भावना पैदा नहीं होगी तब तक जाति प्रथा द्वारा पैदा की गई अलगाव की भावना समाप्त नहीं होगी।

डॉ. अंबेडकर जाति उन्मूलन के रास्ते की बाधाओं से भली-भांति परिचित थे। वे कहा करते थे कि जातियों का एक अजीब स्तरीकरण हुआ है। जातियों के श्रेणीकरण में सम्मान का आरोही क्रम और अपमान का अवरोही क्रम है। सारा समाज और उसका वातावरण इस दुष्ट ब्राह्मणी आदर्श से दूषित हो गया है। अतः जाति प्रथा के खिलाफ हिंदुओं में आम सहयोग प्राप्त करना नितांत कठिन हैं

इस आरोप के उत्तर में कि वे हिंदू धर्म को नष्ट करना चाहते हैं, अंबेडकर ने कहा कि वेदों और शास्त्रों में जिस हिंदू धर्म का प्रतिपादन हुआ है वह व्यय के बलि-विधान और सामाजिक-राजनैतिक नियमों का जाल है। उन्हें यह कहने में जरा भी हिचक नहीं थी कि इस तरह के धर्म को नष्ट किया ही जाना चाहिए। यह धर्म है ही नहीं। डॉ. अंबेडकर ने कहा था, यदि आप हिंदू धर्म को बचाना चाहते हैं तो ब्राह्मणवाद को खत्म करो। हिंदुओं को चाहिए कि सामाजिक विरासत में जो उपयोगी है उसे संभालकर रखें और अगली पीढ़ियों को दें। और शेष को नष्ट कर दें। उन्हें उपनिषदों के उन सिद्धोंतों को ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं थी जो स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व की भावना के अनुरूप थे। लेकिन हिंदू समाज में पूर्ण परिवर्तन

होना चाहिए। इसका अर्थ होगा जीवन के मूलभूत दृष्टिकोण में पूर्ण परिवर्तन, जीवनमूल्यों में आमूल परिवर्तन।

यह भाषण 1936 में प्रकाशित हुआ। यह समाज-सुधारकों, विशेष रूप से समाजवादियों को संबोधित था। मेरे विचार से यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि समाजवादियों तथा साम्यवादियों ने वर्ग संघर्ष और साम्राज्यवाद विरोधी उत्साह में अंबेडकर के सामाजिक घोषणा पत्र की उपेक्षा की। मुझे लगता है कि समाजवादियों का दिमाग उन दिनों खुला नहीं था। जिन्ना की तरह अंबेडकर के प्रति भी उनके मन में पूर्वाग्रह थे। वे सोचते थे कि मुस्लिम नेता की तरह डॉ. अंबेडकर भी अंग्रेजों से मिलकर राष्ट्र शक्तियों को कमज़ोर बना रहे हैं।

मैं 1937 में कांग्रेस समाजवादी पार्टी का सदस्य बना। मैंने समाजवादी नेताओं को अंबेडकर के जाति विषयक विचारों पर बहस करते कभी नहीं सुना। इतिहास और मार्क्स की भौतिक व्याख्या एक नशे की तरह काम करती थी और इसके अलावा आज़ादी की प्रबल इच्छा उन्हें बांध रखती थी और सब बातों की तरफ समाजवादियों ने ध्यान नहीं दिया।

हम तरुण लोगों का सभी वरिष्ठ समाजवादी नेताओं से 1937-40 के दिनों में परिचय हुआ। जयप्रकाश नारायण, युसुफ मेहर अली, अच्युत पटवर्धन, मीनू मसानी, आचार्य नरेन्द्रदेव, राम मनोहर लोहिया आदि। सामाजिक समस्याओं के प्रति रुचि केवल राममनोहर लोहिया ने दिखाई किंतु उस समय वे पं. जवाहर लाल नेहरू के जादू से मोहित थे और स्वतंत्र मन से काम करने में नहीं लगे थे।

जनता के बीच काम के वास्तविक अनुभव ने हमें सामाजिक गैर बराबरी और अत्याचार के आयामों से परिचित कराया। इसके अलावा महाराष्ट्र में समाज-सुधार आंदोलन की एक शक्तिशाली परम्परा थी-महात्मा फुले, सत्यशोधक समाज और गैर-ब्राह्मण आंदोलन आदि के रूप में। म्युनिसिपल मजदूरों और कपड़ा मजदूरों की शोचनीय स्थिति तथा कासार साई तथा अन्य दूरस्थ गांवों की पैदल यात्राओं ने मुझे इस समस्या से परिचित कराया। यह समस्या मुझे दिन-रात सताने लगी। क्षेत्र में काम करने से अनुसूचित जातियों के कार्यकर्ताओं से विचारों का आदान-प्रदान होता ही था। कपड़ा मिलों के बुनाई विभागों से अनुसूचित जातियों के मजदूरों को अलग रखने की बात से मुझे बड़ा सदमा लगा। यहीं से मेरी राजनैतिक और सामाजिक शिक्षा शुरू हुई। लेकिन इस स्वयंशिक्षा को पूरा करने के लिए मुझे अपने मार्क्सवादी ज्ञान को काफी मात्रा में भूलना पड़ा।

समाजवादियों और वामपंथी बुद्धिजीवियों पर मार्क्सवाद का जादू छाया हुआ था। इसीलिए वे न तो महात्मा गांधी के विकेंद्रीकरण और अहिंसात्मक परिवर्तन के दर्शन को समझ सके और न ही जाति प्रथा के विरुद्ध हज़ार साल से चल रहे उस आंदोलन को जिसके प्रतीक गांधी युग में डॉ. अंबेडकर थे। महात्मा गांधी अस्पृश्यता की विकट समस्या के प्रति जागरूक थे और वे जाति की समस्या से जूझने की कोशिश कर रहे थे। उनके व्यक्तित्व के विकासशील आयाम का यह प्रमाण था कि अपने अंतिम वर्षों में वे इस दिशा में इतना आगे बढ़ गये थे कि उनके विचार डॉ. अंबेडकर के विचारों से भिन्न नहीं रह गये थे। जीवन की जिस अवस्था में साधारण लोग अति रूढ़िवाद की ओर झुकते हैं, उस अवस्था में गांधी जी क्रांतिकारिता की ओर झुके और जाति प्रथा की नींव को नष्ट करने की ओर उन्मुख हुए। गांधी जी की तुलना में समाजवादी, समाज-सुधारों के विषय में संवेदनशील नहीं थे। वस्तुतः समाजवादी समाज-सुधारों को अलग समस्या मानते ही नहीं थे। वे मानते थे कि यह समस्या आर्थिक समस्या का एक हिस्सा है और जैसे ही समाजवादी क्रांति होगी यह समस्या अपने आप हल हो जाएगी। भारत के वामपंथी बुद्धिजीवियों ने न केवल मार्क्स के उस विश्लेषण को ज्यों का त्यों अपनाया जो पश्चिमी यूरोप के पूंजीवाद की ऐतिहासिक प्रवृत्तियों के संबंध में उन्होंने प्रस्तुत किया था, अपितु उसके वर्ग सिद्धांत को भी अपनाया जो मार्क्स की अपनी खोज नहीं थी बल्कि जिसे उन्होंने पश्चिम यूरोप के पूर्वकालीन विचारकों से लिया था। भारतीय वामपंथी बुद्धिजीवियों को यह बात सोचनी चाहिए थी कि यह वर्ग सिद्धांत भारतीय समाज में लागू नहीं होगा जो असाधारण रूप से जन्म पर आधारित असंख्य जातियों में बंटा हुआ है। समाजवादियों तथा अन्य वामपंथी बुद्धिजीवियों ने अपनी सामाजिक समस्या की इस विशिष्टता को नहीं पहचाना, यह उनके कार्य का ऋणात्मक पहलू है।

कांग्रेस समाजवादी पार्टी की मूलदृष्टि में 1950 तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसके लिए एक उदाहरण देना ही काफी होगा। समाजवादियों ने संविधान सभा से अलग रहने का फैसला किया था। लेकिन इस निर्णय से पहले ही दामोदर स्वरूप सेठ को संविधान सभा के लिए चुना गया था। नेहरू नहीं चाहते थे कि दामोदर स्वरूप सेठ इस्तीफा दें और उससे एक जगह खाली हो जाए। वे बहसों में सक्रिय भाग नहीं लेते थे। अत्यंत खेद की बात है कि उन्होंने अनुच्छेद 16 के खंड 4 का विरोध किया जिसमें समाज के पिछड़े वर्गों को सरकारी नौकरियों में आरक्षण देने की बात कही गई थी। वे चाहते थे कि सरकारी नौकरियों में योग्यता और गुणवत्ता के आधार पर भरती की जाए। उन्हें डर था कि इससे जातिवाद और पक्षपात को बढ़ावा मिलेगा। उन्होंने आरक्षणों को अच्छे शासन और कार्यकुशलता का सीधा निषेध माना और कहा कि धर्मनिरपेक्ष राज्य में आरक्षणों के सिद्धांत के लिए कोई जगह नहीं होनी चाहिए।

अंतर्निहित नैतिक संदेशों के माध्यम से संघर्ष पर सहायता का असर

■ मेरी बी. एण्डरसन

...पिछले अंक से जारी

माल और सेवाओं के वितरण के साथ-साथ, सहायता संदेशों को भी बांटती है। सहायता की विषय-वस्तु, तौर-तरीक़ा और प्रकार मान्यताओं को संप्रेषित करते हैं और ये मान्यताएं संघर्ष को बढ़ा सकती हैं, उसे लंबा खींच सकती हैं और उग्र बना सकती हैं या फिर शांति स्थापित करने की क्षमताओं को बढ़ा सकती हैं और उसका समर्थन कर सकती हैं। सहायता के संदेश चर्चित सहायता के संसाधनों से जुड़े होते हैं और उनसे रू-ब-रू होते हैं, जैसा कि अध्याय चार में बताया गया है।

सहायता का सुस्पष्ट और जाना-माना संदेश नैतिक और महत्वपूर्ण है : कि किसी भी संघर्ष के किसी एक तरफ़ फंसे सभी मासूम नागरिकों को सिद्धांततः सहायता मिलनी चाहिए। इसके अलावा हमारी अधूरी दुनिया में, जहां लोगों की अपनी ग़लती के बिना ही उन पर दुख का पहाड़ लाद दिया जाता है, दूसरों को उनके पास आध्यात्मिक और भौतिक मदद के साथ पहुंचना चाहिए। हम ऐसी दुनिया को स्वीकार नहीं कर सकते जिसमें सहायता लेना और देना सीमित हो या फिर रोका जाए।

अनेक सहायता प्रदान करने वाले मानते हैं कि ये सुस्पष्ट संदेश इतने साफ़ हैं कि वे सहायता पाने वालों और समाज के दूसरे लोगों द्वारा हमेशा ही समझ लिए जाते हैं। दुर्भाग्य से चूंकि सहायता ऐसे अंतर्निहित संदेश भी पहुंचाती है जिन्हें सहायता दाता अक़सर मान्यता नहीं देते हैं इसलिए सहायता पाने वालों को मिले कई संदेश अस्पष्ट रहते हैं। इन अंतर्निहित संदेशों के स्पष्ट होने पर ही राहतकर्मियों की कुछ दुविधाओं को समझा जा सकता है।

हमने संघर्षमय परिस्थितियों में मानवीय एवम् विकास संबंधी सहायता के ऐसे सात अंतर्निहित नैतिक संदेश चिन्हित किए हैं जो युद्ध के माहौल को ग़लत दिशा में ले जाते हैं। सबसे पहले हम उनके बारे में बता रहे हैं और यह भी बता रहे हैं कि वे कैसे काम करते हैं। उसके बाद हम उन तरीक़ों पर पड़ने वाले इनके असर की चर्चा करेंगे जिन तरीक़ों से सहायता की रूपरेखा तैयार की जाती है, इसका प्रबंधन किया जाता है और अंत में इसका वितरण किया जाता है।

सहायता के वे अंतर्निहित नैतिक संदेश जो संघर्ष बढ़ाते हैं

हथियार और शक्ति : जब सहायता एजेंसियां अपने माल को चोरी से और अपने कार्यकर्ताओं को शारीरिक नुकसान से बचाने के लिए हथियारबंद सुरक्षाकर्मियों को भाड़े में लेती हैं तब युद्ध क्षेत्र में फंसे लोगों को जो अंतर्निहित संदेश मिलता है वो यह है कि हथियारों का यह तय करना सही है कि भोजन और सेहत से जुड़ी ज़रूरतों तक किसकी पहुंच बनती है और यह कि सुरक्षा व हिफ़ाज़त हथियारों से ही मिलती है। निश्चित रूप से युद्ध सरगना भी हथियारों का यही मतलब लगाते हैं। उनका मत है कि ज़रूरतों के सामानों तक लोगों की पहुंच और उनकी राजनीतिक भागीदारी पर ताक़त के बल पर उन्हें नियंत्रण करने का अधिकार है। उनका विश्वास है कि सुरक्षित बने रहने के लिए दूसरों की तुलना में उनके पास सबसे ज़्यादा शस्त्रबल होना चाहिए।

सहायता एजेंसियां इसका विरोध करती हैं- ''हमारे लक्ष्य प्रशंसनीय हैं, अगर हम सुरक्षाकर्मियों को नौकरी पर रखते हैं तो हथियारों का इस्तेमाल अच्छे लक्ष्यों के लिए किया जाता है।'' हर एक युद्ध सरगना एक सा ही दावा पेश करता है। वैधता पर ज़ोर दिए बिना युद्ध के रूपों को अपनाना सहायता के लिए असंभव है। हथियारों के इस्तेमाल में अंतर्निहित नैतिक संदेश युद्ध के माहौल में हावी लक्ष्यों की पूर्ति के लिए युद्ध और धमकी पर भरोसे को बढ़ाता है।

राहत कार्य संस्थाओं के बीच आपसी सम्मान एवं विश्वास की कमी और स्पर्धा : सहायता एजेंसियों के परस्पर सम्मान न करने से एक अन्य नुक़सानदेह अंतर्निहित नैतिक संदेश जाता है। कार्यस्थल पर सक्रिय सहायता एजेंसी के कार्यकर्ता सूचित करते हैं कि वे अक़सर दूसरी एजेंसियों के कार्य को बदनाम करते हैं। अक़सर दूसरी एजेंसियों के कार्यक्रम नज़रियों की आलोचना करने और उनसे कोई भी मतलब नहीं रख कर वे सहायता प्राप्तकर्ताओं को फांसने की प्रतिस्पर्धा में रहते हैं। कभी-कभी यह स्थिति नज़रिये में अंतर की वजह से बनती है (उदाहरण के तौर पर जब कुछ एजेंसियां सुस्पष्ट धार्मिक नज़रिया अपनाती हैं जबकि दूसरी एजेंसियां मज़हबी प्रचार की आलोचना करती हैं), कभी-कभी यह कार्यस्थल पर कार्यरत कर्मचारियों के बीच आपसी तनातनी का परिणाम होती हैं, कभी-कभी यह अलग-अलग तरह की राजनीति को अभिव्यक्त करती है - या तो सहायता एजेंसियां जिस दाता देश की होती हैं उसकी राजनीति या फिर सहायता प्राप्त करने वाले देश में घट रही घटनाओं के मद्देनज़र चल रही राजनीति की।

सहायता प्राप्त करने वाले समुदाय के लोगों को यह संदेश दिया जाता है कि उन लोगों से सहयोग करने की ज़रूरत नहीं है जिन्हें वे पसंद नहीं करते हैं, हमारे कार्य में मतभेदों को सहने की कोई गुंजाइश नहीं है, और हमारे जिन लोगों से मतभेद हैं उनका सम्मान करने की हमें कोई ज़रूरत नहीं है। ये नज़रिए उन अंतर्समूह संघर्षों में व्याप्त होते हैं जो उस ख़ाके को तय करते हैं जिसके तहत सहायता दी जाती है।

राहतकर्मी और अमानत में ख़यानत : राहतकर्मी अक़सर मुश्किलों में और कभी-कभी ख़तरनाक परिस्थितियों में काम करते हैं। उनके लिए मनोरंजन के अवसर बहुत कम होते हैं। उनके काम का भार शारीरिक थकावट और भावनात्मक शून्यता पैदा करता है। अपनी मनोवैज्ञानिक और शारीरिक सेहत बनाए रखने की ख़ातिर उन्हें आराम करने के और खुद का मनोरंजन करने के रास्ते तलाशने चाहिए। उदाहरण के तौर पर गैसोलिन की आपूर्ति कम होने और क़ीमत ज़्यादा होने पर भी राहतकर्मी सप्ताह के अंत में एजेंसी की गाड़ियों में सैर के लिए पहाड़ों पर जा सकते हैं। जिन लोगों की मदद के लिए वे वहां मौजूद हैं उनके पास बहुत कम खाना है या आनंद उठाने के बहुत कम मौके हैं तब भी कार्यकर्ता सहायता एजेंसी के कार्यालय के अहाते में बियर, संगीत और लजीज़ खाने के साथ पार्टी मना सकते हैं।

जब राहतकर्मी अपने माल और सहायता व्यवस्थाओं का इस्तेमाल अपने आनंद और सुख के लिए करते हैं तब स्थानीय लोगों, जिनके पास बहुत कम या कुछ भी संसाधन नहीं होते हैं और इनके लिए सहायता व्यवस्थाओं पर ही निर्भर रहते हैं, को यह आचरण छुट्टा नज़र आता है। यहां यही संदेश मिलता है कि अगर संसाधनों पर किसी का नियंत्रण हो तो वह इनका इस्तेमाल निज़ी स्वार्थों और मौज-मस्ती के लिए कर सकता है। किसी तरह की जवाबदेही की कोई ज़रूरत नहीं पड़ती।

युद्ध सरगना अपने नियंत्रण वाले संसाधनों का इस्तेमाल इसी तरह करते हैं। वे इनका इस्तेमाल निज़ी मौज-मस्ती और संगी-साथियों को पुरस्कार देने के लिए करते हैं।

भिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न मूल्य : ख़तरनाक परिस्थितियों (और ज़्यादा खतरनाक भी नहीं) में काम करते हुए सहायता एजेंसियां ऐसी नीतियां अपनाती हैं जो प्रवासी और स्थानीय कर्मचारियों के साथ अलग-अलग ढंग से लागू होती हैं। दोनों की तनख़्वाह के स्तर में बहुत बड़ा अंतर रखा जाता है। प्रवासी कर्मचारियों के लिए कार्यालय की गाड़ियां उपलब्ध होती हैं या चालक उन्हें लेने जाते हैं जबकि स्थानीय कर्मचारियों से स्थानीय परिवहन से या फिर पैदल आने की अपेक्षा की जाती है। प्रवासी कर्मचारियों को रेडियो सेट दिए जाते हैं जबकि स्थानीय कर्मचारियों को नहीं।

अचानक पैदा हुए ख़तरे की दशा में कर्मचारियों को सुरक्षित निकाल ले जाने की योजनाएं अपना ध्यान प्रवासी-कर्मचारी, गाड़ियों और संचार के साधनों पर केंद्रित करते हैं और ये मान लेते हैं कि स्थानीय कर्मचारी अपना ध्यान रख लेंगे। जब वाकई बाहर निकालना पड़ता है या स्थान बदलना पड़ता है तब, जैसा कि सहायता दाता कार्यकर्ता बताते हैं, भोजन, दवाएं और स्थानीय कर्मचारियों को अक़सर पीछे छोड़ दिया जाता है जबकि गाड़ियों, रेडियो सेटों और दूसरी कार्यालय सामग्रियों के साथ-साथ प्रवासी महानुभावों को बचा लिया जाता है।

इसमें जो छिपा हुआ नैतिक संदेश है वो असमानता का है। यह ज़िंदगियों के बीच (स्थानीय से ज़्यादा महत्व प्रवासी को) और समय के बीच (प्रवासी कर्मचारियों को मोटर गाड़ी जबकि स्थानीय कर्मचारी घंटों पैदल चलकर) भी विभेद करने की मान्यता का संदेश है। इससे भी ख़राब संदेश तो यह है कि आयात किए गए सामानों का मोल स्थानीय लोगों की ज़िंदगी से ज़्यादा है (रेडियो सेट को बचाया जाता है लेकिन स्थानीय कर्मचारियों को नहीं)।

संघर्षमय स्थितियों में समूहों के बीच भी अनेक तरह के मान्यता विभेद किए जाते हैं। ''हमें'' सुरक्षा, आराम और सुविधाएं मिलनी ही चाहिए लेकिन यह हमारी ज़िम्मेदारी नहीं है कि हम सुनिश्चित करें कि 'उन्हें' भी ये चीज़ें मिलें।

क्षमता विहीनता : कार्यस्थल पर कार्यरत राहतकर्मी अक़सर अपने चारों ओर घटने वाले परिदृश्य पर मजबूरी जताते हैं ''मैं इसे बदलने के लिए कुछ नहीं कर सकता हूं। यह मेरे मुख्यालय का दोष है (या दाताओं का या स्थानीय लोगों का या फिर शैतान युद्ध सरगनाओं का)। चूंकि मैं प्रभारी नहीं हूं और मुझे प्रभावित करने वाली सभी चीज़ों पर नियंत्रण नहीं रख सकता हूं, इसलिए मैं अपनी सीमित गतिविधियों के असर के लिए ज़िम्मेदार नहीं हूं।''

मजबूरी व्यक्त करना और अपनी गतिविधियों के असर की ज़िम्मेदारी न उठाने का अंतर्निहित संदेश साफ़ है। अपने संसाधनों और अपनी तथाकथित ताक़त के बावजूद अगर राहतकर्मी स्थितियों को बदलने में खुद को असहाय महसूस करते हैं या कि वे अपने फ़ैसलों के असर के प्रति ज़िम्मेदार नहीं हैं तो फ़िर किसी से भी ऐसी उम्मीद नहीं लगानी चाहिए।

सभी संघर्षरत इलाक़ों में स्थानीय लोग बड़ी ताक़तों के संदर्भ में अपनी मजबूरी अभिव्यक्त करते हैं। अनेक लोगों के लिए बदलाव लाना, ज़िम्मेदारी उठाना, हालात को बेहतर बनाना और शांति स्थापित करना दूसरों की ज़िम्मेदारी है। ख़राब कार्रवाइयों को किसी और के फ़ैसले, आदेश या दबाव की ग़लती बता कर टाल दिया जाता है।

आवेश, तनाव, संदेह : जब राहतकर्मी संघर्ष को लेकर घबराए हुए और अपनी सुरक्षा के प्रति चिंतित होते हैं तो वे अक़सर जो

कार्रवाइयां करते हैं वो तनाव और संदेह को बढ़ा देती हैं। ऐसी कार्रवाइयां हिंसक घटना की संभावना को भी बढ़ा देती हैं। कार्यस्थल पर सक्रिय कर्मचारी उस आशंका के बारे में बताते हैं जो सैनिकों द्वारा चलाए जा रहे तलाशी स्थलों की ओर जाते समय वे महसूस करते हैं। एक प्रतिक्रिया है - दबदबे और लड़ाकू मुद्रा में रहो, भयंकर परिणामों की अपेक्षा रखो और इसके ख़िलाफ़ एक सुरक्षात्मक मुद्रा बनाए रहो : ''तुम्हें कोई अधिकार नहीं है इस ट्रक को रोकने का। तुम्हें दिखाई नहीं पड़ता कि ट्रक के दरवाज़े पर हमारी सहायता एजेंसी का नाम लिखा है? तुम्हें हमको जाने देना ही होगा।''

एक संदेश है, ''यहां मैं ताक़तवर हूं, तुम नहीं।'' युद्ध के माहौल में, यह एक उत्तेजना पैदा करवाने वाला संदेश है और साथ ही ऐसा भी जो प्रतिस्पर्धी समूहों के बीच चल रहे माहौल और टकराव को अधिक बढ़ाता है।

एक दूसरा संदेश है : ''तुम स्वार्थी और विश्वासघाती हो। मुझे पता है तुम्हें सिर्फ ताक़त की भाषा ही समझ में आती है। मैं तुमसे उसी अंदाज़ में बात कर रहा हूं जो तुम्हें पसंद है।'' यह संदेश दूसरों में ख़राबी मानता हुआ संभावित मानवीय संवाद की सीमा को सीमित कर देता है। यह इस संभावना को बढ़ा देता है कि बहुत बुरा परिणाम होने वाला है।

प्रचार : प्रचार और फ़ंड उगाही को लेकर ग़ैर-सरकारी संगठन के मुख्यालय की नीतियां और नज़रिए भी एक अंतर्निहित संदेश देते हैं। जब जनता की हमदर्दी और फ़ंड बटोरने की ख़ातिर सहायता एजेंसियां युद्ध के डरावने चित्रों या दमनात्मक कार्रवाइयों से जनता को मिले कष्ट के उदाहरण पेश करती हैं तब वे युद्ध के एक पक्ष के वहशीयानापन पर ज़ोर डाल सकती हैं। साथ ही, कुछ साक्ष्य (हालांकि उन्हें चिन्हित करना मुश्किल है) इस ओर इशारा करते हैं कि चरित्रहीन लड़ाकुओं ने कभी-कभी अपने ही लोगों का उत्पीड़न किया है और ऐसा महज इस तरह की प्रचार सामग्री द्वारा उभारी गई अंतर्राष्ट्रीय भावनाओं का दोहन करने के लिए किया है।

सहायता के लिए उलझनें :

विकल्पों को कार्यक्रम का रूप देना

क्या इन सात छिपे हुए नैतिक संदेशों में यह शामिल है कि सबसे अच्छा राहतकर्मी वह है जो हर समय निहत्था है, जो सिद्धांतों पर नज़रियों में मतभेद के बावजूद दूसरे सभी राहतकर्मियों के साथ मिलकर काम करता है, जो तड़क-भड़क रहित जीवन बिताता है, और अपनी पहचान सहायता प्राप्त करने वालों जैसी ही बनवाने के लिए कभी भी पूरी तरह से आराम नहीं करता है, जो संकट की घड़ी आने पर वाहनों, रेडियो सेट और विस्थापन की पंक्तियों में सबसे अंत में होता है, रोज़मर्रा के काम में अपनी कुशलता दिखाता है, साक्ष्यों के विपरीत होने के बावजूद जो सबके बारे में अच्छा सोचता है, और जो एक ऐसी आदर्श एजेंसी में है जो इतना नीचे भी नहीं गिरती कि दुखी बच्चों की तस्वीर अपने विज्ञापनों में इस्तेमाल करे? क्या राहतकर्मियों का यही वो रूप है जिसे हम भविष्य में दिखाना चाहते हैं?

निःसंदेह, यह रूप वास्तविकता से कोसों दूर है। पूरी संभावना है कि जिस तरह के राहतकर्मी को हम पेश कर रहे हैं वह बहुत दिन ज़िंदा नहीं रह पाएगा। संघर्षों की वास्तविक दुनिया में - जहां अनेक लोग स्वार्थों से प्रेरित होकर काम कर रहे हैं, हथियारों के माध्यम से ताक़त का अहसास करा रहे हैं, सज़ा के भय से मुक्त हो कार्य कर रहे हों और मानव जीवन मूल्यों के प्रति बहुत कम या बिल्कुल भी ध्यान नहीं दे रहे हों - सहायता एजेंसियों के कर्मचारी सदस्य युद्ध के प्रकारों पर ज़ोर दिए बिना कैसे काम कर सकते हैं? ऐसी परिस्थितियों में उनकी सुरक्षा की गारंटी देने वाले क्या विकल्प उनके पास हैं?

इसके पहले के खंड में चर्चित अंतर्निहित संदेशों में राहतकर्मियों के व्यवहार और नज़रिए, जीवन शैली व सुरक्षा शामिल हैं। हम इनमें से हर एक के बारे में और सहायता संबंधी नीतियों व कार्यस्थल के स्तर के कार्यक्रमों पर इसके असर के बारे में विस्तार से बात करेंगे। साथ ही, हम सहायता से जुड़े पिछले अनुभव पर भी नज़र डालेंगे, ताकि ख़राब असर से बचने की ख़ातिर वास्तविक विकल्पों को तलाशा जा सके और कार्य करने के एक ग़ैर-युद्धीय विकल्प को तैयार किया जा सके।

व्यवहार : कुछ आलोचक दावा करते हैं कि सहायता एक ऐसा ''उद्योग'' है जो दूसरों के दुःखों का इस्तेमाल एजेंसी के अस्तित्व को बचाए रखने की गारंटी के रूप में करता है और एजेंसी के कर्मचारी सदस्य उद्योग के ऐसे कार्यकर्ता है जिनकी रोज़ी-रोटी संकटग्रस्त स्थितियां बने रहने से ही चलती है। अगर ऐसी एजेंसियां और व्यक्ति वाकई मौजूद हैं तो वे संख्या में बहुत कम हैं। हमारा अनुभव तो यही बताता है कि ज़्यादातर राहतकर्मी मदद करने की हार्दिक इच्छा के चलते ही कार्य करते हैं।

लेकिन परिस्थितियां व्यवहार में तब्दीली ले आती हैं। जब राहतकर्मियों के साथ धोखा होता है, उनका अपमान होता है, या उन्हें धमकी मिलती है तब राहतकर्मियों और सहायता लेने वालों के रिश्ते में खटास पैदा हो जाती है। थक कर चूर हो जाने पर भी जब वे अपनी मेहनत का फ़ौरी परिणाम नहीं देखते हैं तो राहतकर्मी सकारात्मक बदलाव लाने वाले तरीक़ों की अनदेखी करने लगते हैं। दुखी लोगों और लगातार तनाव के बीच काम करते-करते वे कठोर बन जाते हैं और जिनकी वे मदद कर रहे हैं उनसे दूरी बना लेने की क्षमता विकसित कर लेते हैं। जब संदर्भ संघर्ष का हो तब तनाव, लड़ाई और विश्वास का माहौल संक्रामक बन सकता है।

जीवन शैली से जुड़े मुद्दे : राहतकर्मी कठिन परिस्थितियों में रहते हैं। परिवार से बिछोह, संभावित ख़तरे और माहौल जनित तनाव के बीच रोज़ ब रोज़ जीना मुश्किल होता है। अपने साझा अनुभव के चलते दोनों समूहों को क़रीबी रिश्ते बनाने चाहिए। सहायता संबंधित ज़्यादातर परिदृश्यों में ऐसा नहीं है।

एक ज़रूरी भेद की अनदेखी नहीं की जा सकती। राहतकर्मी अपनी पसंद के चलते कठिन परिस्थितियों में पाए जाते हैं और अपनी इच्छा से इन परिस्थितियों से निकल भी सकते हैं। लेकिन सहायता प्राप्त करने वाले इन परिस्थितियों में इसलिए फंसे हैं क्योंकि उनके पास दूसरा विकल्प नहीं है। अगर इन परिस्थितियों से निकलने का विकल्प होता तो ज़्यादातर निकल जाते।

इन दो समूहों के बीच दूसरे विभेद उन तरीक़ों द्वारा खड़े किए जाते हैं जिनसे सहायता दाता कार्यकर्ता सहायता प्राप्त कार्यकर्ताओं से रिश्ता जोड़ता है। सहायता एजेंसी के कर्मचारियों द्वारा अपनाई गई जीवन शैली उनके उन लोगों के साथ कार्यगत रिश्तों को बिगाड़ सकती है जिनकी वे मदद करना चाहते हैं। ये पसंद सहायता प्राप्तकर्ताओं और उनके बीच भेद खड़ा कर सकती है, उन्हें दूर ले जा सकती है और नाराज़ भी कर सकती हैं। साथ ही ये उन व्यवहारों और प्रक्रियाओं को जन्म दे सकती है जिनके द्वारा सहायता दाता और सहायता प्राप्तकर्ता परस्पर अविश्वास में घिर जाते हैं। अक़सर सहायता प्रक्रियाएं ऐसी स्थिति की तरफ ले जाती हैं जिसमें प्राप्तकर्ता कोशिश करता है कि ''उसे हर वो चीज़ मिल जाए जो वह पा सकता है'' और सहायता दाता को ''सब कुछ पर नियंत्रण रखना पड़ता है क्योंकि इन लोगों पर भरोसा नहीं रखा जा सकता।''

बढ़-चढ़ कर सहायता एजेंसी कर्मचारी उन दुविधाओं पर चर्चा चला रहे हैं जो ऐसे तरीक़े से रहने की उनकी ज़रूरतों से पैदा हुई हैं जो उन्हें शारीरिक एवम् मानसिक सेहत बनाए रखने और अपना काम करने की इजाज़त देती हैं और साथ ही उन्हें उनके आस-पास के लोगों से पूरी तरह अलग नहीं करती हैं। साधारण चीज़ें मदद करती दिखती हैं। एक सहायता दाता कार्यकर्ता स्थानीय कर्मचारियों के बच्चों के नाम और उन सहायता प्राप्तकर्ताओं के नाम जान जाता है जिनके साथ वह काम करता है। वह उनसे अपने बच्चों के बारे में बात करता है और उन्हें बच्चों की फोटो दिखाता है। एक अन्य महिला कार्यकर्ता इस बात का ध्यान रखती है कि वह कभी भी ज़ल्दी में नहीं दिखायी दे। वह जानबूझ कर बैठने और उन लोगों पर निगाह डालने में समय लगाती है जिनके साथ वह बातचीत कर रही होती है। वह यह सुनने की कोशिश करती है कि वे उससे क्या कह रहे हैं और उनका रटा-रटाया जवाब न देकर सही जवाब देती है। वह बताती है कि ऐसा करने में ज़्यादा वक़्त नहीं लगता।

युद्ध के बाद के एक परिदृश्य में सहायता एजेंसी कर्मचारियों के रहने वाले अहाते को खुली बहस का केंद्र बनाया गया। हर दिन एक निश्चित समय पर परियोजना का निदेशक किसी की भी समस्या को सुनने या आगंतुकों के साथ किसी भी मुद्दे पर बातचीत करने को उपलब्ध रहता। स्थानीय समितियां गुज़ारिश के साथ पहुंचती। जिज्ञासा शांत करने में या फिर आनंद लेने के मक़सद से लोग वहां रुक जाते। पहले के युद्ध के सभी पक्षों के लोगों का वहां स्वागत होता था।

एजेंसी के कुछ कर्मचारी उन लोगों के साथ रहना पसंद करते हैं जिनकी वे मदद कर रहे होते हैं। वे आने-जाने के साधारण माध्यमों का इस्तेमाल करते हैं, स्थानीय भाषा सीख लेते हैं और सादा जीवन बिताते हैं। वे सहायता प्राप्त करने वालों से दोस्ती कर लेते हैं, उनके साथ खाना खाते हैं और उनकी शादियों, धर्म संस्कारों और दूसरे स्थानीय समारोहों में शामिल होते हैं। वे स्थानीय दुकानों से ख़रीदारी करते हैं और वही खाते हैं जो स्थानीय लोग खाते हैं।

लेकिन अनेक सहायता एजेंसियां संघर्षमय परिस्थितियों में अपने कर्मचारियों की वे कहां और कैसे रहें जैसी पसंदों को सीमित कर देती हैं। चूंकि एजेंसियां सुरक्षा की ज़िम्मेदारी उठाती हैं इसलिए वे सुरक्षा की ऐसी व्यवस्थाएं विकसित करती हैं जो अक़सर स्थानीय लोगों से अलगाव पैदा करती हैं।

सुरक्षा : जीवन-शैली के मुद्दे सीधे-सीधे सुरक्षा के मुद्दों से जुड़े हैं। अब यह अक़सर हो रहा है कि राहतकर्मियों को अगवा करने की और हत्या करने की धमकी भी दी जाती है। वर्ष 1996 के अंतिम चरण में राहतकर्मी चेचन्या, रवांडा, सुडान, अफ़ग़ानिस्तान और ताजिकिस्तान में मारे गये थे या फिर उन्हें पकड़ रखा था। हालिया सालों और हालिया संघर्षों में मानवीय सहायता कर्मचारियों के ख़िलाफ़ हिंसा की घटनाएं बढ़ी हैं।

सहायता दाता कार्यकर्ताओं के लिए सैन्य सुरक्षा हासिल करने के हालिया प्रयास इन धमकियों को कम करने में असफल रहे हैं। कुछ हद तक इसलिए क्योंकि दाता सरकारें कुछ वर्तमान संघर्षरत इलाक़ों में सेना भेजने से कतराती रही हैं। लेकिन जब उन्होंने सेना भेजी भी है तब भी सहायता दाता व्यक्ति की सुरक्षा व्यवस्था नहीं बढ़ी है। इसके विपरीत कुछ साक्ष्य यह दिखाते हैं कि अगर राहतकर्मियों को हथियारों की मदद से सुरक्षा प्रदान करने के लिए बाहरी सेनाएं संघर्षमय इलाक़ों में पहुंची हैं तो उन्होंने स्थानीय युद्धरत घटकों के बीच शत्रुता को अधिक बढ़ाया है क्योंकि ये घटक इन सेवाओं को सत्ता के एक और दावेदार के रूप में देखते हैं। हालांकि राहतकर्मी अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा युक्त ट्रकों के कारवां के साथ चलते हुए ज़्यादा सुरक्षित हो सकते हैं लेकिन ताक़त का ये अस्थाई प्रदर्शन विरोध पैदा कर सकता है जो वाकई ख़तरों को बढ़ा देता है। ऐसा लगता है कि युद्ध के दौरान सैन्य शक्ति (अच्छे कारणों से इस्तेमाल किए जाने पर भी) कारगर हो सकती है।

मानवीय कार्यकर्ताओं की राह में आने वाले कुछ बढ़े हुए ख़तरे हालिया संघर्ष के अनेक इलाक़ों में फैली आम अराजकता से पैदा होते हैं। यह बढ़ा हुआ ख़तरा अंतर्राष्ट्रीय नियमों के तहत लड़े जाने वाले नियंत्रित युद्ध के बीच में ख़त्म हो जाने और अंतर्राष्ट्रीय मानवीय सिद्धांतों की स्वीकृति और उनके पालन से भी जुड़ा है।

साथ ही, लगभग सभी वर्तमान संघर्षमय परिस्थितियों में जितने राहतकर्मी पाए जाते हैं उतने एक दशक पूर्व नहीं थे (संभवतया सीमा पार के आक्रमण अपवाद हो सकते हैं जिनमें पाकिस्तान से लेकर अफ़ग़ानिस्तान तक अंतर्राष्ट्रीय सहायता दाता एजेंसियों ने सहायता प्रदान की है)। इसके अलावा ग़ैर-सरकारी सहायता क्षेत्र द्वारा बांटे जाने वाले सामानों की मात्रा और उपयोगिता बहुत अधिक बढ़ गई है हालांकि इसका कारण बता पाना असंभव है फिर भी सहायता एजेंसियों के लोगों द्वारा महसूस किए जा रहे कम से कम कुछ नए ख़तरे इन दो परिवर्तनों से उपजे दिखाई पड़ते हैं। चूंकि किसी भी संकट के दौरान काम करने वाले ग़ैर-सरकारी संगठनों की संख्या में इज़ाफ़ा हुआ है, राहतकर्मियों की संख्या भी बढ़ी है और वे आसान शिकार बनने लगे हैं। चूंकि सहायता सामग्रियों की मात्रा और उपयोगिता बढ़ी है, योद्धाओं के लिए सहायता की उपयोगिता में भी बढ़ोत्तरी हुई है। चोरी और अपहरण से सम्पत्ति में इज़ाफ़े की संभावना इनकी उपयोगिता को लगातार बढ़ा देती है। जब अनेक खिलाड़ियों और बहुमूल्य सामानों के साथ सहायता एक बड़ा धंधा लगने लगता है तब यह अनजाने एक बड़े खिलाड़ी या अभिनेता की विशेषताएं हासिल कर लेता है और इस तरह युद्ध का निशाना बन जाता है।

चौथे अध्याय में हमने अनेक ऐसे रचनात्मक तरीक़ों का ज़िक्र किया है जिनके द्वारा राहकर्मी बिना हथियारबंद सुरक्षाकर्मियों पर भरोसा करके ही सहायता संसाधनों की चोरी से और हथियारों की धमकी से बच पाए हैं। कुछ उदाहरण उन तरीक़ों के भी हैं जिनके माध्यम से सहायता एजेंसियों ने सुरक्षाकर्मियों, रेडियो संचार और सेना आधारित विस्थापन योजनाओं पर विश्वास किए बिना अपने कर्मचारियों की सुरक्षा सुनिश्चित की है।

हालांकि अनुभव यह बताते दिखाई देते हैं कि विश्वसनीय सुरक्षा मुख्य रूप से सामुदायिक सुरक्षा से हासिल की जाती है। जब समुदाय राहतकर्मियों के जीवन और कटिबद्धताओं को महत्व देने लगता है तब समुदाय उन कार्यकर्ताओं के लिए सुरक्षित माहौल उपलब्ध कराने का प्रयास करते हैं। अनेक मानवतावादी कार्यकर्ता एक मित्र द्वारा इस तरह की धमकी मिलने की बात करते हैं कि यह घर में रहने के लिए या छोटी छुट्टी लेने के लिए अच्छा समय रहेगा और बाद में पाते हैं कि उस धमकी ने उन्हें हिंसक प्रहार से बचा लिया था।

अनुभव यह भी संकेत देते हैं कि पारदर्शिता और खुलापन कर्मचारियों की सुरक्षा के पक्ष में रहते हैं। 1980 के दशक के दौरान ग्वाटेमाला में राहतकर्मी अक़सर ''बाग़ियों'' की ''विद्रोही'' गतिविधियों का समर्थन करने की ख़ातिर अक़सर धमकाए जाते थे क्योंकि वे ग़रीब गांव वालों के लिए काम करते थे। अक़सर स्थानीय स्तर पर भाड़े में रखे गए कर्मचारी ज़मीनी कार्य में लगे लोगों को डराने की ख़ातिर सेना द्वारा ''ग़ायब'' कर दिए जाते थे।

जब एक एजेंसी के सहायक निदेशक को बीच बाज़ार में गिरफ्तार किया गया और उसके बारे में कोई ख़बर नहीं मिली तो एजेंसी के प्रवासी फ़ील्ड डाइरेक्टर का रवैया पहले तो वही रहा जो दूसरी एजेंसियों का इस स्थिति में था, यानि अधिकारियों की नज़र से बचने के लिए अपनी पहचान को ज़्यादा छुपाना। हालांकि बहुत सोच-विचार के बाद उसने एक बिल्कुल अलग रणनीति अपनाने का फ़ैसला लिया। उसने अपनी एजेंसी द्वारा किए गए काम का ''लाइट एण्ड साउण्ड शो'' बनाया, एक स्लाइड शो बनाया और एक भाषण तैयार किया जिसे ''वह हर उस व्यक्ति को सुनाता था जो उसे सुनना चाहता था।'' उसने किवानी लोगों और रोटरी क्लबों व ईसाई समूहों से बात की। पारदर्शिता की रणनीति को आगे बढ़ाते हुए वह अपनी प्रस्तुतियों को लेकर क्षेत्रीय सेना मुख्यालय गया और उस इलाक़े में ''बाग़ी-विरोधी'' गतिविधियों पर निगरानी कर रहे सेनानायकों से बात करी। कुछ समय बाद उसने पाया कि कठोर लड़ाकुओं ने भी उसकी एजेंसी के किसानों के बीच किए जा रहे कार्यों के औचित्य को मानना शुरू कर दिया और इससे भी ज़्यादा अच्छी बात तो यह थी कि इसके बाद उसके कर्मचारियों को फिर कभी धमकी नहीं मिली।

अंत में अनुभव बताते हैं कि संघर्षमय इलाक़ों में पूरी सुरक्षा न तो स्थानीय लोगों के लिए और न ही बाहरी सहायता एजेंसी कर्मचारियों के लिए संभव है। कठिन परिस्थितियों में सहायता प्रदान करना ख़तरा मोल लेना है। आपातकालीन कार्य के लिए कर्मचारियों की नियुक्ति करते वक़्त ग़ैर-सरकारी संगठनों को इस वास्तविकता को ज़रूर स्वीकार कर लेना चाहिए और ऐसे व्यक्तियों को ही नियुक्त करना चाहिए जो सेवा के प्रति अपनी कटिबद्धता के चलते जोख़िम उठाने के इच्छुक होते हैं। ऐसे अनेक व्यक्ति हैं और रोमांचित होने से ज़्यादा वे यहां बताए गए अंतर्निहित नैतिक संदेशों के नकारात्मक प्रभावों के प्रति संवेदनशील हैं। अंतर्राष्ट्रीय सहायता एजेंसियों और उनके कर्मचारियों के लिए चुनौती यह है कि सहायता प्रदान करने के लिए जोख़िम उठाने की इच्छा और ख़ुद उनके व दूसरों के लिए ख़तरे पैदा करने वाले ग़ैर-ज़रूरी जोखिमों से बचने के लिए ज़रूरी सावधानी उठाने के बीच कैसे एक सतर्क संतुलन बिठाएं। इस संतुलन को बनाए रखने की क्षमता जीवन-मूल्यों और सबके जीवन के प्रति गहरी आस्था से पैदा होती है।

...क्रमशः जारी

फाँसी के तख्ते से
जूलियस फूचिक

चेकोस्लोवाकिया का क्रांतिकारी

जूलियस फूचिक ने यह पुस्तक नात्सी जल्लाद के फन्दे की छाया में लिखी थी। इसकी पांडुलिपि के रूप से ही इसके लेखक के अदम्य साहस और अनोखी सूझबूझ का प्रमाण मिल जाता है। इसकी पांडुलिपि हैं कागज की स्लिपें जिन पर पैंसिल से लिखा हुआ है। बाद में यही स्लिपें एक हमदर्द चेक सन्तरी की मदद से पांक्राट्स, प्राग, के गेस्टापो जेल से एक-एक करके चोरी-चोरी बाहर लायी गयीं। फूचिक, जिसे अपने आप से छल करना क़तई मंजूर नहीं था, जानता था कि वह इस खतरों भरी किताब को समाप्त नहीं कर सकेगा। लेकिन तब भी उसका यह विश्वास अपनी जगह पर बिल्कुल दृढ़ था कि उसके अपने देश के लाखों-करोड़ों लोग और दूसरे देशों के फासिस्त-विरोधी जन जल्द ही उसकी इस पुस्तक का उसके ही शब्दों में 'सुखद अंत' लिखेंगे।

...पिछले अंक से जारी

मर रहा हूँ

जब कि सूरज की गर्मी और तारों की रोशनी
हमारे लिए
नहीं रह जाती... नहीं रह जाती ।

गिरजाघर के नीचे के एक तहखाने में जो कब्रों के लिए है और जिसके चारों ओर सफेद दीवार है, दो आदमी, जिनके हाथ नीचे को प्रार्थना की मुद्रा में जुड़े हुए हैं, एक के पीछे एक, गोल-गोल चक्कर काट रहे हैं। उनके नौसिखुए गलों से दफन के वक्त का गाना लँगड़ाता-घिसटता निकल रहा है।

कैसे मज़े में रूह परवाज़ करती है
वहाँ जन्नत को जन्नत को ....

कोई मर गया है। कौन ? मैं ताबूत को और लाश को एक नजर देखने के लिए अपना सिर घुमाने की कोशिश करता हूँ - दो मोमबत्तियाँ उसके सिर के पास से ऊपर को उठी हुई हैं।

मैं आँखें उठाकर इधर-उधर घुमाता हूँ। यहाँ और कोई नहीं है। इन दो आदमियों और अपने आप को छोड़कर यहाँ मैं और किसी को नहीं देखता। यह लोग किसका मातम कर रहे हैं?

जहाँ वह सितारये अबदी चमकता रहता है
ईसा मसीह, ईसा मसीह।

किसी को दफन किया जा रहा है। बिल्कुल वही चीज़ मालूम होती है, मगर किसको ? देखें यहाँ पर कौन-कौन है - सिर्फ़ वो दो आदमी और मैं। और मैं ! तो क्या यह मुझे दफनाया जा रहा है ? लेकिन सुनो, भाई ज़रूर कहीं कोई गलती है। मैं मरा नहीं हूँ। मैं अभी ज़िन्दा हूँ। तुमको दिखायी नहीं देता कि मैं तूम्हें देख रहा हूँ, तुमसे बात कर रहा हूँ ? ठहरो, मुझे अभी से मत कब्र में गाड़ दो।

... जब कोई हमसे आखिरीं अलविदा कहता है,
आखिरी अलविदा...

वे मेरी बात नहीं सुनते। क्या वे बहरे हैं ? मैं क्या काफी जोर से नहीं बोल रहा हूँ ? या कहीं मैं सचमुच मर तो नहीं गया और इसीलिए वे एक अशरीरी स्वर न सुन पाते हों ? क्या मेरा शरीर यहाँ इसी तरह मुँह के बल पड़ा रहेगा और मैं अपने को ही दफन होते देखूँगा ? कैसी मज़ाक की बात है।

वह अपनी उम्मीद से भरी आँखें लगाता है
जन्नत पर जन्नत पर...

अब मुझे याद आया। किसी ने मुझे उठाने और कपड़े पहनाने के लिए जोर लगाया। फिर वह मुझे जनाज़े की चादर पर ले चले, उनके कीलदार बूटों की आवाज़ से दालान गूँज रहा

था और फिर ...बस। मुझे और कुछ याद नहीं।

जहाँ की रोशनी कभी बुझती नहीं।

मगर यह कैसी पागलपन की बात है। मैं अभी जिन्दा हूँ। मुझे कहीं दर्द मालूम होता है, दूर कहीं, और प्यास। मुर्दों को प्यास नहीं लगती। मैं अपना सारा जोर लगा कर हाथ हिलाने की कोशिश करता हूँ और एक अजब अप्राकृतिक-सी आवाज़ मेरे मुँह से निकल जाती है :

'पानी !'

आखिरकार! उन दोनों आदमियों ने मेरे गिर्द चक्कर लगाना बन्द किया। अब वे मुझ पर झुके, उनमें से एक ने मेरा सिर उठाया और पानी की सुराही मेरे मुँह से लगा दी। 'भाई, तुमको कुछ खाना भी चाहिए। दो दिन से तुम सिर्फ पानी पर हो।'

वह मुझसे यह क्या कह रहा है ? दो दिन हो गये, अभी से ? आज कौन दिन है ?

'सोमवार ।'

सोमवार ! और शुक्र को मैं पकड़ा गया था। ओह, मेरा सिर कितना भारी हो रहा है। और पानी इतना ठंडा है। नींद। सो न जाऊँ। एक बूँद ने सोते की सतह पर थरथरी ला दी है। उन पहाड़ों के बीच उस चरागाह का वह सोता। मैं उस जगह को खूब अच्छी तरह जानता हूँ, रोकलान पहाड़ के नीचे, जंगलात के अफसर के मकान के पास, वहीं एक हलकी-सी मगर कभी खत्म न होने वाली फुहार चीड़ की सुईनुमा पत्तियों में गाना-सा गाती है। ...सोने में कैसा मज़ा आता है। ...और फिर जब मेरी आँख खुली तो वह मंगल की शाम थी और मुझ पर एक कुत्ता झुका हुआ था। एक भेड़िया-नुमा कुत्ता। वह अपनी प्यारी-प्यारी समझदार आँखों से मुझे बहुत गौर से देखता है और पूछता हैः

'तुम कहाँ रहे ?'

अरे नहीं, यह कुत्ता नहीं है। यह तो किसी और की आवाज़ है। हाँ, वहाँ और कोई खड़ा हुआ है। मुझे फौजी बूट नज़र आते हैं, एक जोड़ा फौजी बूट और एक जोड़ा और, फिर एक सिपाही का पतलून। उससे ऊपर की चीज़ मैं नहीं देख सकता, सिर उठाने की कोशिश करते ही मेरा सिर चक्कर खाने लगता है। अरे जाने भी दो, आओ सोयें ...

बुधवार।

वे दो आदमी जो 'साम[1]' गा रहे थे अब बैठे मेज पर एक मट्टी के बर्तन में खाना खा रहे थे। अब मैं बता सकता हूँ कि उनमें कौन-कौन हैं। उनमें एक उम्र में छोटा है और ऐसा लगता है कि वे लोग पादरी नहीं हैं। यह किसी गिरजे की नहीं, जेल की कोठरी है। मैं देखता हूँ फर्श पर के लकड़ी के पटरे बड़ी दूर तक चले गये हैं और जहाँ वह खत्म होते हैं, वहीं पर एक बड़ा भारी, डरावना-सा दरवाज़ा है ...

उधर ताले में चाभी के घूमने की आवाज़ होती है और इधर दोनों आदमी डर कर अटेंशन की हालत में खड़े हो जाते हैं। एस.एस. की वर्दियों में दो और आदमी अन्दर आते हैं और उन्हें हुक्म देते हैं कि वे मुझे कपड़े पहनायें। मैं नहीं जानता था कि हर मोज़े और हर बाँह में कितना दर्द छिपा हुआ है। वे मुझे एक स्ट्रेचर पर लिटाते हैं और सीढ़ियों से नीचे ले जाते हैं, उनके भारी बूट उस लंबे सायबान में गूँजते हैं......अच्छा तो यही वह रास्ता है जिधर से वे मुझे एक बार और ले गये थे जब मैं बिलकुल बेहोश हो गया था। यह रास्ता कहाँ जाता है ? किस नरक में जाकर यह खत्म होता है ?

पांक्राट्स के पुलिस कैदखाने की उस परछाइयों की दुनिया में जहाँ दुश्मनी बरतने के लिए कैदियों का सब से पहले स्वागत किया जाता है। वे मुझे फर्श पर रख देते हैं और दोस्ती का अभिनय करती हुई एक चेक आवाज़ एक जर्मन आवाज़ के क्रुद्ध प्रश्न का अनुवाद करती है :

'तुम इस लड़की को जानते हो ?'

मैं हाथ से अपनी ठुड्डी ऊपर उठाता हूँ। स्ट्रेचर के सामने चौड़े-से चेहरे की एक नौजवान लड़की खड़ी है। वह गर्व के साथ तनकर खड़ी है, उसका सिर उठा हुआ है, लेकिन ओछे घमंड से नहीं, उदात्त भाव से। उसकी आँखें भर नीची हैं, इतनी कि मुझे देख सकती हैं और आँखों ही आँखों में अपना अभिनंदन जता सकती हैं।

'मैं नहीं जानता ।'

मुझे याद आता है कि मैंने सिर्फ एक बार उसे देखा था, शायद एक सेकेंड के लिए, पेचेक बिल्डिंगवाली उस भयानक रात को। यह दूसरी बार है। और शायद तीसरी बात देखने का मौका नहीं मिलेगा। आह, काश कि मैं उसका हाथ अपने हाथों में लेकर उसे यह जतला सकता कि जिस आन-बान से वह यहाँ पर खड़ी हुई है उसकी मेरी आँखों में कितनी इज़्ज़त है। वह अर्नॉस्ट लारेंज़ की पत्नी थी। वह सन् बयालिस के मार्शल लॉ के पहले ही दिनों में मार डाली गयी ।

'मगर इसको तो तुम ज़रूर जानते होगे!'

अनिचूका जिरासकोवा! हे भगवान्, अनिचूका तुम यहाँ कैसे आ गयीं ?

मैंने तो तुम्हारा नाम नहीं बतलाया, तुम्हें मुझसे कोई सरोकार भी न था। मैं तुम्हें नहीं जानता, समझीं, मैं तुम्हें नहीं जानता।

'मैं उसको नहीं जानता।'

'होश में आओ, आदमी !'

'मैं उसको नहीं जानता ।'

'जूली, कोई बात नहीं।' अनिचूका कहती है, और रूमाल मुरेरती हुई उसकी अँगुलियों के जरा-सा काँप जाने से उसके दिल की बेचैनी का भेद खुल जाता है। कोई बात नहीं। किसी ने मुझे पहचनवा दिया।

'किसने?'

'चुप ।' वे उसे जवाब देने नहीं देते और जैसे ही वह मेरी ओर झुकती है और अपना हाथ बढ़ाती है, वे उसे ज़ोर से धक्का देकर एक ओर को कर देते हैं।

अनिचूका !

उनके सवाल अब मुझे सुनायी नहीं देते। मुझे महसूस होता है कि दो नात्सी सिपाही मुझे वापस कोठरी की ओर ले जा रहे हैं लेकिन अब मुझे कोई दर्द नहीं होता, जैसे मैं भी दूर पर खड़ा बस एक तमाशाई हूँ। कितनी बेरहमी से सब स्ट्रेचर को झुलाते हैं, और हँसते हुए मुझसे पूछते हैं कि क्या मुझे फाँसी पर लटकना ज्यादा पसंद होगा।

वृहस्पतिवार ।

अब फिर बातें मेरी समझ में आने लगी हैं। कोठरी के दो साथियों में से एक जिसकी उम्र कम है, उसका नाम कारेक है, और वह बड़ेवाले को 'पापा' कहता है। वे दोनों मुझको अपने बारे में बतलाते हैं लेकिन वह सब मेरे दिमाग में जाकर गडमड हो जाता है। उसकी बात में कहीं शायद किसी खान का जिक्र है और बेंचों पर बैठे हुए लड़कों का। मुझे घंटी की आवाज़ सुनायी देती है, शायद कहीं आग लग गयी। लोग कहते हैं कि एक डाक्टर और एक नात्सी फौजी अर्दली रोज मुझे देखने आते हैं- मेरी हालत ऐसी बहुत खराब नहीं और लोग कहते हैं कि जल्दी ही मैं बिलकुल चङ्गा हो जाऊँगा। 'पापा' यही कहते हैं और इतने विश्वास के साथ कहते हैं और कारेक इतने उत्साहपूर्वक उनका समर्थन करता है कि अपनी उस भयानक तकलीफ में भी मुझे लगता है कि वे दोनों सफेद झूठ बोल रहे हैं। दोनों बड़े अच्छे हैं। मुझे दुःख है कि मैं उनकी बात पर विश्वास नहीं कर सकता।

तीसरा पहर।

कोठरी का दरवाज़ा खुलता है, और कुत्ता चुपचाप पञ्जों के बल अन्दर आता है। वह मेरे सिर के पास आकर खड़ा हो जाता है और एक बार फिर कुछ खोजती हुई आँखों से मुझे देखता है। फिर दो जोड़ा भारी बूटों की आवाज़। मैंने अभी उन्हें देखा नहीं है लेकिन मैं जानता हूँ कि एक जोड़ा कुत्ते के मालिक पांक्राट्स जेल के सुपरिनटेनडेंट का है और दूसरा गेस्टापो के कम्युनिस्ट-विरोधी विभाग के अध्यक्ष का, जिसकी निगरानी में उस पहली रात को मेरा इम्तहान हुआ था। कुछ शहरियों के पतलून भी दिखलायी देते हैं। मेरी आँखें उन पर उठती हैं- हाँ, मैं जानता हूं, यही वह लम्बा दुबला कमीसार है जिसने पुलिस के छापे का नेतृत्व किया था। वह बैठ जाता है और सवाल करना शुरू करता है।

'तुम बाज़ी हार गये। अब कम से कम अपनी जान तो बचा लो। बोलो !' वह मुझे सिगरेट पेश करता है। मुझे उसकी जरूरत नहीं है। मैं उसे बर्दाश्त नहीं कर सकूँगा।

'बाक्सस परिवार के संग तुम कितने रोज़ थे ?' बाक्सस परिवार के संग ! यह तो हद हो गयी। उन्हें किसने बतलाया सब ?

जब तुम सब कुछ खुद ही जानते हो, तो मैं और क्यों बतलाऊँ ? मैंने अपनी ज़िन्दगी व्यर्थ नहीं गँवायी है और उसका अन्त भी मैं अपने हाथ से न बिगाड़ूँगा।

मामले की छानबीन एक घंटे तक चली। वह आदमी ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाता नहीं, बहुत धीरज के साथ वह अपने सवालों को दोहराता है और जब उनका भी कोई जवाब नहीं मिलता, तो वह दूसरा सवाल पूछता है, फिर तीसरा, फिर न जाने कितने, सवालों की एक झड़ी जो कभी खतम नहीं होती।

'मेरी बात तुम्हारी समझ में नहीं आती ? यही अन्त है, समझे। बाजी तुम हार गये।'

'अभी सिर्फ मैं हारा हूँ।'

'तूम्हें अब भी कम्यून के जीतने का भरोसा है ?'

'बेशक।'

'इसे अब भी इस बात का भरोसा है ?' अध्यक्ष जर्मन में पूछता है और कमीसार अनुवाद करता है- 'इसे अब भी रूस की जीत का विश्वास है ?'

'पूरी तरह। और दूसरा हो भी क्या सकता है।'

मैं थक गया हूँ। मैंने अपने बचाव के लिए अपनी सारी शक्ति एकत्र कर ली थी, अब एक गहरे घाव से बहने वाले रक्त के साथ-साथ मेरी चेतना भी तेज़ी के साथ खोती जा रही है। मैं उनको अपनी ओर हाथ बढ़ाते हुए महसूस करता हूँ - शायद वे मेरे माथे पर मौत का निशान पढ़ रहे हैं। कुछ देशों में यह रवाज भी है कि जल्लाद कैदी को मारने के पहले उसे चूमता है।

शाम।

दो आदमी हाथ जोड़े गोल-गोल घूम रहे हैं, एक के पीछे और रोती हुई ऊबड़खाबड़ आवाज में यह मातमी गाना गा रहे हैं:

जब सूरज की गर्मी और तारों की रोशनी हमारे लिए
नहीं रह जाती, नहीं रह जाती ....

भलेमानुसो, इसे बन्द करो ! शायद यह बहुत अच्छा गाना है, लेकिन आज, आज पहली मई की शाम है, कल पहली

मई है, पहली मई, इन्सान का सबसे सुन्दर सबसे ज़्यादा खुशी का त्यौहार। मैं खुशी की कोई चीज़ गाने की कोशिश करता हूँ लेकिन शायद वह बहुत उदास सुन पड़ती है क्योंकि नौजवान कारेक मुँह फेर लेता है और 'पापा' अपनी आँखें पोंछने लगते हैं। कोई परवाह नहीं, मैं गाता रहता हूँ और धीरे-धीरे वे भी मेरा साथ देने लग जाते हैं। मैं खुश-खुश सो जाता हूँ।

पहली मई की भोर।

जेल के घंटाघर ने ती बजाये। पहली बार वह आवाज मुझे साफ-साफ सुनाई दी। मेरी चेतना पूरी तरह लौट आयी है। मैं महसूस करता हूँ कि ताज़ी हवा खुली हुई खिड़की में से बहती हुई अन्दर आ रही है और फर्श पर बिछे हुए मेरे पुआल के गद्दे पर फैल रही है। यकायक मुझे भूसे की डंटियाँ चुभती महसूस होती हैं। साँस लेना भी मुश्किल है, क्योंकि मेरे शरीर के एक-एक अंग में हज़ार-हज़ार दर्द हैं। यकायक जैसे कोई खिड़की खोल दे, और मैं देखता हूँ कि मेरा अन्त अब आ गया। मैं मर रहा हूँ।

मौत, तूम्हें आने में बड़ी देर हुई। कभी मुझे आशा थी कि तुमसे मुलाकात करने में मुझे अभी बहुत-बहुत बरसों की देर है। मैंने आशा की थी कि आज़ाद आदमी की तरह रहूँगा, खूब काम करूँगा, खूब प्यार करूँगा, गाऊँगा और दुनिया भर घूमूँगा। अब कहीं मुझमें प्रौढ़ता आयी थी और अभी मुझमें सचमुच बड़ी ताकत थी। अब मुझमें ताकत नहीं है। अब मेरी ताकत गायब हो रही है।

मुझे ज़िन्दगी से प्यार था और उसकी खूबसूरती के लिए मैं लड़ने गया। लोगों, मुझे तुमसे प्यार था और तुमने जब बदले में मुझे प्यार दिया तो मुझे सुख हुआ। मुझे तकलीफ हुई जब तुमने मुझे गलत समझा। तुम लोग जिन्हें मैंने कोई नुकसान पहुँचाया हो, मुझे माफ़ कर देना और तुम लोग जिन्हें मैंने कोई खुशी पहुँचायी हो, मुझे भूल जाना, उदासी मेरे नाम के संग कभी न जुड़े। यही मेरी आखिरी वसीयत है, पापा, अम्माँ, बहन; तुम्हारे लिए, मेरी गुस्टा तुम्हारे लिए, मेरे साथियो, तुम सब जिनसे मुझे प्यार था, तुम्हारे लिए। अगर तुमको लगे कि आँसुओं से तुम्हारे दर्द की उदास धूल धुल जायेगी तो थोड़ी देर रो लेना। लेकिन अफसोस मत करना। मैं आनन्द के लिए जिया, और अब आनन्द के लिए ही मर रहा हूँ और मेरी क़ब्र पर ग़म के फरिश्ते को बिठालना मेरे संग बेइंसाफ़ी होगी।

पहली मई। शहर के आस-पास के इलाकों में हम लोग भोर की इस बेला में उठते और अपने झंडे तैयार करते थे। इसी वक्त मास्को की सड़कों पर सैनिकों की कतारें मई दिवस की परेड के लिए खड़ी हो जाती थीं। इस वक्त लाखों आदमी इंसान की आज़ादी के लिए आखिरी लड़ाई लड़ रहे हैं और उसमें हजारों मर रहे हैं। मैं भी उनमें से एक हूँ। इसमें कितना सुख है। इस आखिरी लड़ाई का एक सिपाही होना कितना सुन्दर है।

लेकिन मरना सुन्दर नहीं है। मेरा दम घुट रहा है। मैं साँस नहीं ले पाता। मुझे अपने गले में मौत की खरखराहट सुनायी पड़ती है, अच्छा हो कि मैं अपने साथियों को जगा लूँ। शायद अगर मैं थोड़ा पानी पी लूँ- लेकिन झज्झर में पानी नहीं है, गो मुझसे सिर्फ छः कदम दूर, कोठरी के एक कोने में बहुत-सा पानी है, गुस्ल का पानी। क्या उस तक पहुँचने की ताकत मुझमें है ?

मैं पेट के बल घिसटता हूँ। खामोशी से, ओह कितना खामोशी से- गोया मेरी मौत की सारी शान इस बात में हो कि मेरे कारण कोई जागे नहीं। आखिर मैं उसके पास पहुँचा और बहुत-सा पानी पी गया, हबोककर।

पता नहीं इसमें मुझे कितनी देर लगी और फिर पता नहीं घिसटकर वापस आने में कितनी देर लगी। चेतना फिर लुप्त हो रही है। मैं अपनी नब्ज़ टटोलता हूँ, पर मुझे कुछ पता नहीं चलता। मेरा दिल उछलकर जैसे मेरे गले में आ जाता है और फिर वैसे ही झटके के साथ वापस अपनी जगह पर पहुँच जाता है। मैं भी उसके संग गिरता हूँ, बड़ी देर तक गिरता चला जाता हूँ। बीच में ही मुझे कारेक की आवाज़ सुनायी पड़ती है।

'पापा पापा, सुनते हो ? बेचारा दम तोड़ रहा है।'

सबेरे डाक्टर आया।

लेकिन उसके बारे में तो मुझे बहुत बाद में पता चला।

वह आया। उसने मुझे देखा, सुना और सिर हिलाया। फिर वह अस्पताल लौटकर गया और वह मौतवाली रिपोर्ट फाड़ी जिसमें कल शाम को ही उसने मेरा नाम दर्ज कर लिया था, और एक पक्के विशेषज्ञ के-से आत्मविश्वास के साथ कहा-

इस आदमी के शरीर में घोड़े जैसी ताकत है।

...क्रमशः जारी

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी
फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,
62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067
टेलीफोन 011-26196356, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904, ईमेल : notowar@rediffmail.com
वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए